णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

जैन तत्त्व विद्या

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-तत्त्व का स्वरूप, प्रकार एवं तत्त्व चिंतन का लक्ष्य	(कुल पाठ-4)
इकाई – 2	-द्रव्य, गुण, पर्याय एवं जीवद्रव्य	(कुल पाठ-5)
इकाई – 3	-अजीव द्रव्य एवं अस्तिकाय	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा एवं गतिमार्गणा	(कुल पाठ-4)
इकाई – 5	-इन्द्रिय मार्गणा आदि शेष मार्गणाएँ एवं उपयोग	(कुल पाठ-5)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन, दिल्ली

डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

- संस्करण -

प्रथम संस्करण (सन् 2014)-प्रतियाँ 500, द्वितीय संस्करण (सन् 2018)-प्रतियाँ 500
तृतीय संस्करण (सन् 2022)-प्रतियाँ 500

वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला पुष्प नं.-505
ISBN-978-93-84003-32-6
मूल्य-150/-रुपये

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद
एवं
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका
गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का
मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने सन् 2012 में युनिवर्सिटी प्रवास के समय इस विश्वविद्यालय में ''जैन दर्शन विभाग'' की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही अन्य स्नातक करने वाले विद्यार्थियों के कोर्स में एक विषय जैनधर्म का भी सम्मिलित करने का उपक्रम किया गया है, जो सराहनीय है। यहाँ से जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के ऑनलाइन सर्टिफिकेट कोर्स भी संचालित किये जा रहे हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर एवं विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं बड़े हर्ष का परिचायक है।

अतः मैं इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को कोटिशः आशीर्वाद प्रेषित करती हूँ कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत् होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय के जैन दर्शन विभाग हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी)

प्रस्तावना

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(लेखन एवं संकलनकर्त्री)

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-''कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः'' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में ''महावीर डेन्टल कॉलेज'' से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रही है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये ''प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह'' में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके।

अतः इस त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स में प्रत्येक वर्ष में जैनधर्म से संबंधित 2-2 विषय रखे गये हैं, जिनमें प्रथम वर्ष में 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास' तथा 'जैन तत्त्व विद्या', द्वितीय वर्ष में 'जैन आचार संहिता' एवं 'जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त' तथा तृतीय वर्ष में 'जैनागम में न्याय' एवं 'जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' है। ऐसे बी. ए. में जैनधर्म के कुल 6 पेपर रखे गये हैं।

इसी प्रकार मैंने एम.ए. जैनोलॉजी के प्रथम व द्वितीय वर्षों की भी 4-4 किताबें तैयारी की हैं। इनमें प्रथम वर्ष में जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास, भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका, कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना तथा जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा किताबें शामिल है। पुनः द्वितीय वर्ष के लिए तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम), जिनागम दर्पण, अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय एवं जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण, ऐसी ये 8 किताबें अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उच्चस्तरीय ज्ञान से पूर्ण हैं।

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

पुस्तकों के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातक/स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री आदि प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शितायुक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षा की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (पूर्व अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम.ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है। वर्तमान में यहाँ से जैनधर्म पर संचालित किये जा रहे है विभिन्न सर्टिफिकेट कोर्स एवं अन्य स्नातकीय शिक्षा कोर्स में भी जैनधर्म की उपरोक्त प्रारंभिक किताबों का उपयोग किया जा रहा है, जिसके लिए विश्वविद्यालय प्रबंधन के प्रति हमारी बहुत सारी शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद प्रेषित है।

कुलाधिपति की कलम से..........

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में अध्ययन करके मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012 को प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में ''पीएच.डी.'' की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन की शिक्षा प्रणाली को ऑनलाइन अथवा दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किया गया है अतः इसका स्टडी मैटेरियल सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

सम्पादकीय.....

-डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप

यह एक अत्यन्त ही ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें छात्र-छात्राओं को जैनधर्म के अति विशिष्ट ज्ञान से परिचित होने का अवसर मिल रहा है। बी.ए. और एम.ए. जैनोलॉजी के आधार पर निम्न कुल 14 पुस्तकों का निर्माण अत्यन्त ही कठिन और श्रमसाध्य कार्य था, जिसे प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी ने अत्यन्त कुशलता के साथ अपने गहन ज्ञान अध्ययन और कुशाग्र विवेक के साथ सन् 2014 में सम्पन्न किया। यह कार्य विश्वप्रसिद्ध जैन तीर्थ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर की समृद्ध लाइब्रेरी में उपलब्ध शताधिक ग्रंथों के आलोढ़न से अत्यन्त कम समय में सम्पन्न किया गया। इस लाइब्रेरी में लगभग 20 हजार से अधिक जैनधर्म की पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिसमें अनेकों पाण्डुलिपियाँ भी संग्रहित हैं। ऐसी लाइब्रेरी के सदुपयोगपूर्वक इस कोर्स का निर्माण जैनधर्म के आगमोक्त ज्ञान के परिवेश में अत्यन्त ही प्रामाणिक है। इन पुस्तकों के माध्यम से धर्म के ज्ञान के साथ विश्वविद्यालयों द्वारा छात्र-छात्राएँ स्नातक और स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ भी हासिल कर सकते हैं।

इसी क्रम में तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद को सर्वोच्च जैन साध्वी गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 2012 में प्रेरणा प्रदान की, जिसके आधार पर कुलाधिपति श्री सुरेश जी जैन ने अपने विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी डिपार्टमेंट की स्थापना करके जैनधर्म के प्रति एक महान शैक्षणिक कार्य प्रारंभ किया है। वर्तमान में इस विश्वविद्यालय से निम्न पुस्तकों के आधार पर ही विभिन्न वार्षिक सर्टिफिकेट कोर्स का संचालन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में अनेकों वर्ष से चल रहा है। इसी क्रम में वर्तमान सन् 2026 से विश्वविद्यालय के द्वारा स्नातक की शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के लिए एक विषय जैनधर्म का भी इन पुस्तकों के आधार पर पढ़ाया जाना निर्धारित किया गया है, जो जैनधर्म के प्रति विश्वविद्यालय की एक अनुकरणीय पहल है।

ऐसे कोर्स का अध्ययन करके जहाँ विश्वविद्यालय जैनधर्म और संस्कृति के प्रति अपने कुछ कर्तव्य निभा सकेगा, वहीं पढ़ने वाले विद्यार्थीगण भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और उसके सिद्धान्तों के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास में अपनी महती भूमिकाएँ अदा करेंगे, ऐसी आशाओं के साथ इस शिक्षा क्षेत्र से जुड़ने वाले सभी महानुभावों एवं छात्र-छात्राओं के प्रति उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामनाएँ हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित स्नातक एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षण हेतु जैनधर्म की विभिन्न विषयक पुस्तकें

-स्नातक हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास
(2) जैन तत्त्व विद्या

द्वितीय वर्ष-

(1) जैन आचार संहिता
(2) जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त

तृतीय वर्ष-

(1) जैनागम में न्याय
(2) जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप

-स्नातकोत्तर हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास
(2) भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका
(3) कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना
(4) जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा

द्वितीय वर्ष-

(1) तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम)
(2) जिनागम दर्पण
(3) अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय
(4) जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1–तत्त्व का स्वरूप, प्रकार एवं तत्त्व चिंतन का लक्ष्य	**5–22**
पाठ–1 तत्त्व का स्वरूप एवं भेद	5–8
पाठ–2 आस्रव व बंध तत्त्व	9–14
पाठ–3 संवर एवं निर्जरा तत्त्व	15–18
पाठ–4 मोक्ष तत्त्व	19–22
इकाई 2–द्रव्य, गुण, पर्याय एवं जीव द्रव्य	**23–44**
पाठ–1 द्रव्य-विवेचन, गुण पर्याय का स्वरूप	23–27
पाठ–2 जीव द्रव्य, इन्द्रियों की अपेक्षा भेद	28–31
पाठ–3 गतियों की अपेक्षा व अन्य अपेक्षा से जीवों के भेद	32–36
पाठ–4 विभिन्न दर्शनों के अनुसार जीव का स्वरूप	37–41
पाठ–5 जीव के नौ अधिकार	42–44
इकाई 3–अजीव द्रव्य एवं अस्तिकाय	**45–60**
पाठ–1 पुद्गल द्रव्य	45–50
पाठ–2 धर्म, अर्धम, आकाश एवं काल द्रव्य	51–53
पाठ–3 अस्तिकाय	54–56
पाठ–4 द्रव्य की त्रयात्मकता का सिद्धांत	57–60
इकाई 4–गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा एवं गतिमार्गणा	**61–84**
पाठ–1 गुणस्थान	61–65
पाठ–2 जीव-समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा	66–68
पाठ–3 गति मार्गणा	69–76
पाठ–4 गतियों से आने-जाने के द्वार	77–84
इकाई 5–इन्द्रिय मार्गणा आदि शेष मार्गणाएँ एवं उपयोग	**85–107**
पाठ–1 इन्द्रिय मार्गणा	85–88
पाठ–2 काय, योग और वेदमार्गणा	89–94
पाठ–3 कषाय और ज्ञानमार्गणा	95–100
पाठ–4 संयम, दर्शन, लेश्या और भव्यत्व मार्गणा	101–104
पाठ–5 सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक मार्गणा तथा उपयोग	105–107

इकाई–1 तत्त्व का स्वरूप, प्रकार एवं तत्त्व चिंतन का लक्ष्य (Nature & Types of Reals and Aim of Reals'-Contemplation)

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) तत्त्व का स्वरूप एवं भेद

(2) आस्रव व बंध तत्त्व

(3) संवर एवं निर्जरा तत्त्व

(4) मोक्ष तत्त्व

पाठ-1–तत्त्व का स्वरूप एवं भेद (Nature and Types of Real-*Tattva*)

1.1 तत्त्व का स्वरूप (Nature of Real)-

मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे समझ विकसित होती जाती है वह जगत् और जीवन के प्रति चिंतनशील होता जाता है। उसके मन में तत्संबंधी अनेक जिज्ञासाएं उभरने लगती हैं। यथा-

1. यह जो दृश्य जगत् है वस्तुतः वह क्या है ?
2. जीवन में प्रतिक्षण अनुभूत होने वाले सुख-दुःखादिक का कारण क्या है ?
3. क्या कोई ऐसी भी गति या स्थिति है जो समस्त दुःखों से परिमुक्त हो ?
4. यदि वह स्थिति है तो उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ?

ये कुछ ऐसी जटिल जिज्ञासाएं हैं जो प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु के मन में उत्पन्न हुआ करती हैं। इनके समाधान में वह यथासंभव अपनी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग भी करता है। किन्तु वह ज्यों-ज्यों तर्क की गहराइयों में प्रवेश करता है त्यों-त्यों वह उतना ही उलझता जाता है। वह ऐसी किसी स्थिति तक नहीं पहुँच पाता जहाँ उसे इसका समुचित समाधान मिल सके।

तात्विक समाधान (Solution on the Basis of Reals)—जैन दर्शन में उक्त जिज्ञासाओं का समाधान बताते हुए कहा गया है कि यह दृश्य जगत् जड़ और चेतन पदार्थों के संयोग का ही परिणाम है। समस्त चेतन पदार्थ जीव हैं उसके अतिरिक्त दृश्य जड़-जगत् का समग्र विस्तार अजीव है। जीव अपने शुभाशुभ भावों के कारण ही सुख-दुःख का अनुभव करता है। आस्रव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है तथा वे ही जीव से बंधकर सुख-दुःख उत्पन्न करते हैं। हमारे समस्त दुःखों का कारण कोई अन्य शक्ति न होकर यह आस्रव और बंध ही हैं।

क्या ऐसी कोई गति या स्थिति है जो सुख-दुःख से परिमुक्त है ? जैन दर्शन में इसका समाधान स्वीकारोक्ति में देते हुए कहा गया है कि हाँ वैसी स्थिति (गति) भी है। वह है 'मोक्ष' जो समस्त सुख-दुःख से परे परम आनंद की अवस्था है। जो व्यक्ति दुःख की निवृत्ति और सुख प्राप्ति का उद्देश्य रखता है। उसे मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाना चाहिए।

चौथे प्रश्न का समाधान जैन दर्शन में विस्तार से दिया गया है। इस प्रश्न का समाधान देते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि आस्रव और बंध के कारण सुख-दुःख होते हैं। उनका अभाव संवर और निर्जरा से संभव है। संवर द्वारा कर्मों का आगमन रुकता है तथा निर्जरा के द्वारा संचित कर्म विनष्ट होते है।

इस प्रकार उक्त चार बातों के माध्यम से जैनाचार्यों ने मनुष्य के मन में उठने वाली सभी तात्विक जिज्ञासाओं का समाधान किया है और इसीलिए सत्यान्वेषक मुमुक्षु जनों के लिए उसका अध्ययन/अवलोकन आवश्यक हो जाता है। मोक्षमार्ग में रत साधक को इन सभी बातों का ध्यान/श्रद्धान रखना अनिवार्य है। इसके बिना वह यथार्थ साधना नहीं कर

सकता। इसके लिए रोगी का उदाहरण दिया गया है-

जैसे-कोई व्यक्ति रोगी है तो उसे रोग और रोग के कारणों पर विचार करने के साथ-साथ रोगोपचार और उसके साधनों को अपनाना भी अनिवार्य है। कोई भी रोगी तभी रोगमुक्त हो सकता है जबकि उसे इन बातों का ध्यान रहे कि 1. मैं स्वभावतः निरोगी हूँ, 2. मैं वर्तमान में रोगी हूँ 3. रोग का कारण क्या है ? 4. रोग बढ़ता कैसे है ? 5. रोग से बचने का उपाय क्या है ? 6. रोग का इलाज क्या है ? तथा 7. आरोग्य का स्वरूप क्या है ? इन बातों पर विचार करने पर ही वह आरोग्य का अनुभव कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने रोग का उपचार करता रहे पर उसे यही पता न हो कि उसका रोग क्या है ? उसका स्वरूप कैसा है ? वह क्यों बढ़ता है ? और कैसे घटता है ? यदि कुछ नहीं जानता तो वह अपना रोग कभी भी नहीं मिटा सकता।

1.2 तत्त्व की व्याख्या (Explanation of *Tattva*) —

तस्य भावस्तत्त्वम्—तत्त्व शब्द भाव सामान्यवाची है क्योंकि तत् यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है। अतः इसका भाव तत्त्व कहलाया।

तद्भावस्तत्त्वम्—जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है।

तत्त्व—वस्तु के भाव या स्वभाव को तत्त्व कहते हैं। जैसे—जीव का जीवत्व, स्वर्ण का स्वर्णत्व आदि।

तत्त्व सात होते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

तत्त्व सात ही क्यों ?

किसी भी जिज्ञासु के मन में यदि जिज्ञासा उठ सकती है, तो वह सात प्रकार की ही होती है ।

(1) दुःख किसे मिल रहा है?	जीव को
(2) दुःख किससे मिल रहा है ?	अजीव से
(3) दुःख का कारण क्या है ?	कर्मास्रव
(4) दुःख बना क्यों रहता है ?	कर्म बंध के कारण
(5) दुःख को कैसे रोका जाये ?	संवर के द्वारा
(6) दुःख से छुटकारा कैसे हो ?	कर्म निर्जरा से
(7) दुःख रहित अवस्था ?	मोक्ष

जो तीर्थंकर महावीर स्वामी के प्रमुख गणधर श्री गौतम स्वामी के मुख से निःसृत वचनानुसार अति प्रामाणिक बात है और उसी प्रमाण को आधार बनाकर आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी आदि महान आचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में उन तथ्यों को स्वीकार किया है।

जीव-अजीव आदि नौ पदार्थ होते हैं। इन्हें कहीं-कहीं नौ तत्त्व के नाम से भी आगम ग्रंथों में चिन्हित किया है। इस विषय में आप सभी को इन पदार्थों-तत्त्वों के क्रम से परिचित कराने हेतु यह संकलन किया गया है। अर्थात् श्री गौतम गणधर स्वामी ने यतियों-मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बंध-मोक्ष इस प्रकार का क्रम बताया है। इसी क्रम का अनुसरण श्री वीरसेनाचार्य ने षट्खण्डागम ग्रंथ की धवला टीका में किया है तथा श्री कुंदकुंदाचार्य ने समयसार ग्रंथ की मूल गाथा में यही क्रम बतलाकर इसी क्रमानुसार अधिकारों का विभाजन किया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा में भी यही क्रम देकर इन्हें टीका में नौ पदार्थ कह दिया है।

पुनश्च तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य श्री उमास्वामी ने जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष इन सात तत्त्वों का क्रम थोड़ा परिवर्तित रूप में दिया है। उसी के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रंथों में भी क्रम दिया है। दोनों प्रकार के कथन का अध्ययन "जैनागम में नव पदार्थ" (जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित) पुस्तक से करना चाहिए।

1.3 तत्त्व, द्रव्य, अस्तिकाय और पदार्थ इनमें क्या अन्तर है ? (Differences among Reals, Realities, Existents & Substances)

तत्त्व भाववाची है, द्रव्य द्रव्यवाची है, अस्तिकाय क्षेत्रवाची है और पदार्थ (परिणमन) कालवाची है।

इनके भेद—द्रव्य छह हैं, तत्त्व सात हैं, अस्तिकाय पाँच हैं और पदार्थ नौ हैं।

अस्तिकाय—अस्ति और काय शब्द मिलने से अस्तिकाय बना है अर्थात् जो विद्यमान है और बहुप्रदेशी है, वह अस्तिकाय है।

पदार्थ—पूर्वोक्त सात तत्त्वों में आस्रव के दो भेदरूप पुण्य और पाप मिला देने पर पदार्थ नौ हो जाते हैं।

सात तत्वों में हेय, ज्ञेय और उपादेय—

उपादेय—जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष

हेय—आस्रव, बंध

ज्ञेय—अजीव

ध्येय—मोक्ष

धर्म का लक्ष्य जीवों को सब दु:खों से छुड़ाकर उत्तम सुख की प्राप्ति कराना है। दु:ख का मूल कारण आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म हैं अत: इन कर्मों के बारे में यह जानना आवश्यक है कि ये आत्मा के साथ कैसे बंधते हैं और इनसे छुटकारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इन्हें जानने के लिये ही जैन धर्म में सात तत्त्व कहे गये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

एक दृष्टान्त से इन्हें समझने में आसानी रहेगी। नदी पार करने हेतु व्यक्ति नाव का उपयोग करता है। नाव में छेद होने से उसमें धीरे-धीरे पानी आकर इकट्ठा होना शुरू हो जाता है। नाव को डूबने से बचाने हेतु दो उपाय हैं. प्रथम तो छेदों को बन्द करके आ रहे पानी को आने से रोका जावे और दूसरा एकत्रित पानी को बाहर फेंका जावे। तभी आदमी नदी पार कर सकेगा। इस उदाहरण में व्यक्ति जीव तत्त्व है, नाव अजीव तत्त्व है, छेदों से पानी आना आस्रव है, पानी एकत्रित होना बंध है, छेदों को बन्द करके आते हुए पानी को रोकना संवर है, एकत्रित पानी को बाहर फेंकना निर्जरा है और नदी से पार उतरना मोक्ष है।

तदनुसार हमारा शरीर अजीव है। उसमें जो आत्मा है वह जीव है। शुभ-अशुभ कर्मों का आना आस्रव है। इन कर्मों का आत्मा के साथ एकमेक हो जाना बन्ध है। मन-वचन-काय की चंचलता को रोकना संवर है। तप से आत्मा को कर्म मुक्त करना निर्जरा है और आत्मा का शुद्ध हो जाना मोक्ष है।

तत्त्व ज्ञान की आवश्यकता (Need for Knowledge of *Tattva*)—

कर्मबन्ध के कारण जीव अनन्त काल से संसार में भ्रमण कर रहा है और इस भ्रमण से छुटकारा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय "मोक्ष" है। मोक्ष की प्राप्ति हेतु कर्म बन्ध का अभाव होना जरूरी है। बंध का कारण आस्रव है और आस्रव का अभाव संवर द्वारा ही संभव है। पूर्व में बन्धे कर्मों का अभाव निर्जरा के बिना नहीं हो सकता है। इन पांचों तत्त्वों के आधारभूत द्रव्य जीव व पुद्गल हैं अत: जीव-अजीव का स्वरूप जानना भी जरूरी है। इस प्रकार इन सातों तत्त्वों को जानने से ही भव-भ्रमण के अंत हेतु प्रयास किये जा सकते हैं।

1.4 तत्त्वों के सात भेद इस प्रकार हैं (Seven Kinds of *Tattvas*)—

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व के सात भेद हैं।

(1) जीव तत्त्व (*Jeev Tattva*-Living beings)—जिसमें चेतना है अथवा जिसमें देखने व जानने की शक्ति है, वह जीव तत्त्व है। जैसे—मनुष्य, तिर्यंच आदि में स्थित आत्म तत्त्व।

जीव का लक्षण—'चेतना लक्षणो जीवः' अर्थात् जीव चेतनावान है।

चेतना—जिसमें ज्ञान दर्शन पाया जाए, वह चेतना है।

लक्षण—बहुत सारी वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् कराने वाली पहचान लक्षण है।

जीव के अन्य नाम—प्राणि, भूत, जीव, सत्त्व, आत्मा, जन्तु, जंगम आदि। प्राणी—विकलेन्द्रिय, भूत—वनस्पतिकायिक जीव, जीव—पञ्चेन्द्रिय, सत्त्व—शेष चार स्थावर।

आत्मा-अतति व्याप्ति परिणमति गुण पर्यायान् इति आत्मा।

जीव के अस्तित्व की सिद्धि—सुख-दुःख का अनुभवन तथा पूर्वजन्मसंबंधी घटनाओं से जीव के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

(2) अजीव तत्त्व (*Ajeev Tattva*, Non-Living beings)-जिसमें चेतना नहीं है अथवा जिसमें देखने व जानने की शक्ति नहीं है, वह अजीव तत्त्व है। जैसे—लकड़ी, पत्थर आदि। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँचों द्रव्य "अजीव" तत्त्व हैं।

1.5 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)-

प्रश्न 1-तत्त्व कितने प्रकार के होते हैं ?

प्रश्न 2-तत्त्व के नाम बताइये ?

प्रश्न 3-जीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-अजीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5-हेय और उपादेय तत्त्वों के नाम बताइये ?

पाठ-2—आस्रव व बंध तत्त्व [*Asrava* (Influx) and *Bandh* (Bondage) *Tattva*]

2.1 आस्रव तत्त्व (*Asrava Tattva*)—

आत्मा में कर्मों के आने को आस्रव तत्त्व कहते हैं। जैसे नदी में नाव चलते समय किसी छिद्र में से पानी का नाव में आना। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन, राग, द्वेष आदि भावों के कारण आत्मप्रदेशों में हलन चलन होने से कार्मण पुद्गल वर्गणा आत्मा में आती हैं। ऐसे पुद्गल कणों को कर्म नाम दिया जाता है और सामान्य कथन में इन्हें ही कर्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा में कर्म निरंतर आते रहते हैं।

आस्रव के विभिन्न प्रकार से भेद व उपभेद किये गये हैं। इसके मुख्य दो भेद निम्न हैं—

(1) भाव आस्रव—जिन शुभाशुभ भावों से कार्मण वर्गणाएं कर्मरूप में परिणत होती हैं, उन्हें भाव-आस्रव कहते हैं।

(2) द्रव्य-आस्रव—उन कार्मण वर्गणाओं का कर्मरूप से आत्मा में आना द्रव्य-आस्रव कहलाता है।

दूसरे शब्दों में जिन भावों से कर्म आते हैं, वह भावास्रव है और कर्मों का आगमन द्रव्यास्रव है। जैसे नाव के छेदों से जल नाव में आता है वैसे ही जीव के मन-वचन-कायरूपी छिद्रों से कर्मवर्गणाएं प्रविष्ट होती हैं। छिद्र होना भावास्रव है और जलरूपी कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

भाव आस्रव के भेद—

भाव-आस्रव के मूल भेद 4 और उप भेद 57 हैं और इन 57 के द्वारा ही कर्मों का आस्रव होता है। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

(1) मिथ्यात्व (5)—झूठे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व की वजह से जीव में तरह-तरह के भाव उत्पन्न होते हैं, जो कर्म बन्ध के कारण हैं। मिथ्यात्व 5 प्रकार का होता है—एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

(2) अविरति (12)—आत्मा के अपने स्वभाव से हटकर अन्य विषयों में लगना या व्रतों को धारण न करना अविरति है अर्थात् इसमें चारित्र ग्रहण की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसके 12 भेद हैं—6 प्रकार के जीव (5 स्थावर और 1 त्रस) के रक्षण का भाव न होना तथा 5 इन्द्रियों तथा मन को वश में नहीं करना।

(3) कषाय (25)—जो आत्मा को कषे अर्थात् दुःख दे, वह कषाय है। इसके 25 भेद होते हैं।

(4) योग (15)—सोचने, बोलने या अन्य शारीरिक क्रिया करने से हमारे शरीर में हलन-चलन होता है। इससे हमारी आत्मा के प्रदेशों में भी हलन-चलन होता है, यही योग कहलाता है। आत्मा में हलन-चलन होने से ही कर्मों का आस्रव होता है। योग के 15 भेद हैं।

इस प्रकार भाव-आस्रव के 57 भेद होते हैं।

2.2 पुण्यास्रव-पापास्रव (Auspicious and Inauspicious influxes)-

पुण्य-पाप की अपेक्षा से आस्रव के 2 भेद हैं—

(1) पुण्यास्रव (शुभास्रव)-जिनेन्द्र भक्ति, जीव दया आदि धार्मिक शुभ क्रियाएं करने से जो कर्म आते हैं वह पुण्यास्रव अथवा शुभास्रव है।

(2) पापास्रव (अशुभास्रव)-हिंसा-झूठ आदि अधार्मिक व अशुभ क्रियाएं करने से जो आस्रव होता है, वह पापास्रव या अशुभास्रव है।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद-

वह योग, कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव का कारण है।

कषाय-जो आत्मा को कषे अर्थात् चारों गतियों में भटकाकर दुःख देवे उसे कषाय कहते हैं। जैसे-क्रोध, मान, माया, लोभ।

साम्परायिक आस्रव-जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथ-स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

नोट-ईर्यापथ आस्रव 11वें से 13वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है और उसके पहले गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है। 14वें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

साम्परायिक आस्रव के भेद-

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियां, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाएँ, इस तरह साम्परायिक आस्रव के 39 भेद हैं अर्थात् इन सब 39 भेदों के द्वारा साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है।

2.3 पच्चीस क्रियाएँ (Twenty Five Activities)-

(1) सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं।

(2) मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया को मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं।

(3) शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना सो प्रयोग क्रिया है।

(4) संयमी का असंयम के सन्मुख होना सो समादान क्रिया है।

(5) गमन के लिए जो क्रिया होती है, उसे ईर्यापथ क्रिया करते हैं।

(6) क्रोध के वश से जो क्रिया हो, वह प्रादोषिकी क्रिया है।

(7) दुष्टतापूर्वक उद्यम करना सो कायिकी क्रिया है।

(8) हिंसा के उपकरण तलवार आदि का ग्रहण करना सो अधिकरण क्रिया है।

(9) जीवों को दुःख उत्पन्न करने वाली क्रिया को पारितापिकी क्रिया कहते हैं।

(10) आयु, इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करना सो प्राणातिपातिनी क्रिया है।

(11) राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना सो दर्शन क्रिया है।

(12) राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करना स्पर्शन क्रिया है।

(13) विषयों के नये-2 कारण मिलना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(14) स्त्री, पुरुष अथवा पशुओं के बैठने तथा सोने आदि के स्थान में मलमूत्रादि क्षेपण करना समन्तनुपात क्रिया है।

(15) बिना देखी बिना शोधी हुई भूमि पर उठना बैठना अनाभोग क्रिया है।

(16) लोभ से वशीभूत हो दूसरे के द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है।

(17) पाप को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति को भला समझना निसर्ग क्रिया है।

(18) पर के किये हुए पापों को प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(19) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं के करने में असमर्थ होकर उनका अन्यथा निरूपण करना सो आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(20) प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं में अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है।

(21) छेदन-भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्य को प्रवृत्त देखकर हर्षित होना प्रारंभ क्रिया है।

(22) परिग्रह की रक्षा में प्रवृत्त होना पारिग्रहिकी क्रिया है।

(23) ज्ञान दर्शन आदि में कपटरूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है।

(24) प्रशंसा आदि से किसी को मिथ्यारूप परिणति में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(25) चारित्रमोहनीय के उदय से त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

2.4 जीवाधिकरण एवं अजीवाधिकरण के भेद (Kinds of Living and Non-Living Substratums)-

जीवाधिकरण के भेद (Kinds of living Substratum)—

जीवाधिकरण आस्रव-समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, मन, वचन, कायरूप तीन योग, कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से 108 भेदरूप हैं।

समरम्भ, समारम्भ, आरंभ, तीनों में मन, वचन, काय, इन तीन योगों का गुणा करने से 9 भेद हुए। इन 9 भेदों में कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन का गुणा करने पर 27 भेद हुए और इन 27 भेदों में क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषाय का गुणा करने से कुल 108 भेद हुए।

अजीवाधिकरण के भेद (Kinds of Non-living Substratum)-

अजीवाधिकरण आस्रव-दो प्रकार की निवर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग, इस तरह 11 भेद वाला है।

ज्ञानावर्णादि 8 कर्मों के आस्त्रव के कारण (Causes of Influx of Eight Karmas)-

ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

निज तथा पर दोनों के विषय में स्थित दुःख-शोक-ताप-आक्रन्दन-वध और परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्रव हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षांति और शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि ये सातावेदनीय के आस्रव हैं।

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्रव हैं।

बहुत आरंभ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है।

माया (छलकपट) तिर्यंच आयु का आस्रव है।

थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है।

स्वभाव से ही सरल परिणामी होना मनुष्य आयु का आस्रव है।

दिग्व्रतादि सात शील और अहिंसादि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुकर्मों का आस्रव है।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप ये देव आयु के आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शन भी देव आयु कर्म का आस्रव है।

योगों की कुटिलता और विसम्वादन—अन्यथा प्रवृत्ति करना अशुभ नामकर्म का आस्रव है।

योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के आस्त्रव कराने वाली सोलहकारण भावनाएँ—

1. **दर्शनविशुद्धि—**पच्चीस दोषरहित निर्मल-सम्यग्दर्शन

2. **विनयसम्पन्नता—**रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय करना

3. **शीलव्रतेष्वनतिचार—**अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोधत्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति

4-5 **अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ—**निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना और संसार से भयभीत होना

6-7 शक्तितस्त्याग तपसी—यथाशक्ति दान देना और उपवासादि तप करना

8. साधुसमाधि—साधुओं के विघ्न आदि को दूर करना

9. वैयावृतकरण—रोगी तथा बालवृद्ध मुनियों की सेवा करना

10-11-12-13-अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति—अरहन्त भगवान की भक्ति करना, आचार्यों की भक्ति करना, उपाध्यायों की भक्ति करना, शास्त्रों की भक्ति करना

14 आवश्यकापरिहाणि—सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना

15. मार्गप्रभावना—जैनधर्म की प्रभावना करना

16. प्रवचनवत्सलत्व—गोवत्स की तरह धर्मात्मा जीवों से स्नेह रखना। ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव हैं।

दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरे के मौजूद गुणों को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, वे नीच गोत्रकर्म के आस्रव हैं।

नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् परप्रशंसा तथा आत्मनिन्दा और नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये उच्च गोत्रकर्म के आस्रव हैं।

दूसरों के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तरायकर्म का आस्रव है।

2.5 बन्ध तत्त्व (Bondage *Tattva*)-

आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ मिलकर एकमेक हो जाना बन्ध तत्त्व है। जिस प्रकार दूध में पानी मिलकर एकमेक हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में कर्मों का मिलकर एकमेक हो जाना बन्ध तत्त्व है।

पुद्गल की कार्मण वर्गणाओं को अपनी ओर खींचने की विशेष शक्ति जीव में होती है। जैसे कि चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचती है। जीव की इस आकर्षण शक्ति का नाम योग है। मन वचन व काय की प्रवृत्ति से जब आत्मा के प्रदेश कम्पायमान होते हैं तब योग शक्ति से कर्म वर्गणाएं आती हैं और आत्मा से बंध को प्राप्त हो जाती हैं। ये कर्म वर्गणाएं जीव के भावों के अनुसार ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में स्वयमेव परिणमित हो जाती हैं। जैसे अपने द्वारा ग्रहण किया गया आहार स्वयं ही रुधिर, वीर्य, मांस, मल-मूत्र, अस्थि, चमड़ी, केश आदि स्वरूप परिणमता है। आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सातों कर्मों का बन्ध प्रति समय होता रहता है।

यह लोक सभी ओर बादर, सूक्ष्म आदि अनन्तानन्त पुद्गलों से ठसाठस भरा हुआ है और जहां पर आत्मा है, वहां पर ये पुद्गल पूर्व से ही मौजूद हैं तथा पुद्गल-कर्म आत्मा से अनादि काल से बंधा हुआ है। इसी कारण आत्मा मोह, राग, द्वेष आदि भावरूप परिणमन करती रहती है। इन भावों को निमित्त करके कार्मण वर्गणा स्वभाव से ही कर्मपने को प्राप्त होकर जीव के प्रदेशों से बंध जाती हैं। जैसे बिना किसी के किये हुए पुद्गलों के इन्द्रधनुष, मेघ आदिरूप स्कन्ध बन जाते हैं, वैसे ही अपने योग्य जीव के परिणामों का निमित्त मिलते ही ज्ञानावरणी आदि कर्मरूप होकर आत्मा से बंध जाते हैं। मन-वचन-काय की क्रिया की अधिकता होने पर आत्मा के प्रदेश अधिक चलायमान होते हैं, तब कर्म परमाणु अधिक बंधते हैं और क्रिया कम होने पर ये कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकने शरीर पर धूल अधिक जमती है और कम चिकने शरीर पर धूल कम जमती है।

बन्ध का उदाहरण (Example of Bondage)-

दो व्यक्ति, जिनमें से एक के शरीर पर तेल लगा हुआ है, धूल भरी भूमि पर अपनी कुल्हाड़ियों से पेड़ों को काटते हैं। उनमें से जिस व्यक्ति के शरीर पर तेल लगा हुआ था, उसके मिट्टी चिपक जाती है लेकिन दूसरे व्यक्ति के नहीं लगती है। इसका कारण क्या है ? धूलभरी भूमि होना, कुल्हाड़ी होना तथा वृक्ष को काटना इसका कारण नहीं हो सकता है।

क्योंकि इनमें से कोई भी कारण होता तो दोनों व्यक्तियों के शरीर पर मिट्टी चिपकनी चाहिए थी। निष्कर्ष यही निकलता है कि बाह्य साधनों के कारण मिट्टी नहीं चिपकी, मगर देह में जो स्नेह (तेल) लगा हुआ है, उसके कारण चिपकी है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ मन-वचन-काय की चेष्टायें करता है जिससे कार्मण वर्गणाओं (जो संसार में सर्वत्र व्याप्त हैं) से बंध जाता है। बाह्य साधनों से कर्म बन्ध नहीं होता है, अपितु उपयोग में जो रागादि को ले जाना है, वह कर्म बन्ध का कारण है।

बन्ध के प्रकार—बंध दो प्रकार का होता है—

(1) भावबन्ध—जीव के शुभ व अशुभ (राग, द्वेष, क्रोध आदि) परिणाम जिनसे कर्म बंधता है, वह भावबन्ध है।

(2) द्रव्यबन्ध—आत्मा के प्रदेशों और कर्म वर्गणाओं का मिलना द्रव्यबंध है। जैसे धूल उड़कर गीले कपड़े में लग जाती है।

आस्रव और बन्ध साथ-साथ होते हैं। अतः आस्रव के सभी कारण बंध के कारण भी होते हैं।

2.6 कर्म बंध के भेद (Kinds of Bondage of Karma)-

जब कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को आवरण करता (ढकता) है तो उस पदार्थ में चार बातें एक साथ प्रकट होती हैं—(1) आवरण का स्वभाव, (2) आवरण का काल, (3) आवरण की हीनाधिक शक्ति और (4) आवरण करने वाले पदार्थ का परिमाण। आगम में इन्हीं को क्रमशः प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार कर्म बन्ध के चार भेद हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(1) प्रकृतिबंध-प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। जैसे गुड़ में मीठापन या नमक में खारापन। वैसे ही दर्शन, ज्ञान आदि को ढकने का स्वभाव कर्मों का होता है, यही प्रकृति बंध है। जैसे ज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढकना है। प्रकृति बंध दो प्रकार का होता है-

(क) मूल प्रकृतियाँ—आठ कर्मों की 8 मूल प्रकृतियाँ हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय

(ख) उत्तर प्रकृतियाँ—ये 148 प्रकार की होती हैं।

एक बार खाये अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप से अनेक प्रकार का परिणमन होता है, उसी प्रकार एक आत्म परिणाम के द्वारा ग्रहण किये गए पुद्गल ज्ञानावरण आदि रूप अनेक भेदों को प्राप्त होते हैं।

(2) स्थिति बंध—जितने काल तक कर्म आत्मा के साथ बंधे रहते हैं अर्थात् फल देने की स्थिति में रहते हैं, वह स्थिति बंध है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ा-कोड़ी सागर है।

(3) अनुभाग बंध—कर्मों के फल देने की अपनी-अपनी शक्ति (तीव्र, मन्द आदि) का होना अनुभाग बंध है। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मन्दता पर निर्भर है।

(4) प्रदेश बंध—बंधने वाले कर्मों की संख्या प्रदेश बंध है।

योग के द्वारा प्रकृति बंध और प्रदेश बंध होता है और कषाय के द्वारा स्थिति बंध और अनुभाग बंध होता है। कर्म-सिद्धान्त में सर्वत्र अनुभाग व स्थिति की प्रधानता है, प्रकृति व प्रदेश की नहीं। जैसे उबलते हुए जल की एक कटोरी भी शरीर में छाले डाल देती है और कम गर्म जल की एक बाल्टी भी शरीर को कोई हानि नहीं पहुंचाती है। ये चारों बन्ध प्रति समय होते रहते हैं।

2.7 अमूर्तिक (जीव) का मूर्तिक (कर्म) के साथ बंध कैसे ? (How is the Association of Non-concrete Soul with Concrete Karma)

पुद्गल के 20 गुण (5 रूप, 5 रस, 2 गंध और 8 स्पर्श) जीव में नहीं पाये जाते हैं, अतः जीव पुद्गल नहीं है अर्थात्

मूर्तिक नहीं है अपितु अमूर्तिक है। पुद्गल द्रव्य 23 प्रकार की वर्गणाओं में बंटा हुआ है जिनमें से एक कार्मण वर्गणा है। जीव के द्वारा किये गए भावों के निमित्त से यह कार्मण वर्गणा ही कर्म रूप हो जाती है। इस प्रकार कर्म मूर्तिक है।

अब यह देखना है कि अमूर्तिक के साथ मूर्तिक पदार्थ का बंध कैसे माना जाता है–

जैन दर्शन जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है। किसी समय जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद में उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध हुआ, यह नहीं माना जा सकता है क्योंकि अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध नहीं होता है। यदि शुद्ध आत्मा बाद में कर्मों के बन्धन में पड़ सकती है तो फिर शुद्ध आत्मा हेतु प्रयत्न करने का क्या औचित्य रहता है, जब तक जीव के साथ कर्म बंधे हुए हैं, तब तक वह अशुद्ध आत्मा है और संसार में जन्म–मरण करती रहती है। यदि आत्मा कर्मों से रहित हो जावे अर्थात् सर्वथा शुद्ध हो जावे तो वह संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाकर सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाती है और अविनाशी सुख का अनुभव करती है। इस प्रकार संसारी जीव यद्यपि मूर्तिक नहीं है किन्तु कर्म से बंधा हुआ जीव मूर्तिक रूप में प्रतिभासित होता है। संसार अवस्था में जीव के साथ कर्म का बंध अनादिकाल से होने के कारण जीव व्यवहार रूप से मूर्त हो रहा है। अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म का बंध होता है।

2.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–आश्रव तत्त्व की परिभाषा बताइये ?

प्रश्न 2–साम्प्रायिक आश्रव किसे कहते हैं, उसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 3–जीवाधिकरण के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 4–चारों गतियों के आस्रव के कारण बताइये ?

प्रश्न 5–कर्म बंध के कौन–कौन से भेद हैं ?

पाठ-3—संवर एवं निर्जरा तत्त्व [*Samvara* (Stoppage) and *Nirjara* (Shedding) *Tattva*]

3.1 संवर तत्त्व [Samvara (Stoppage) *Tattva*]—

आस्रव का निरोध अर्थात् आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर तत्त्व है। दूसरे शब्दों में कर्मों को नहीं आने देना संवर तत्त्व है। जिन कारणों से कर्म का आस्रव होता है, यदि वे कारण दूर कर दिये जावें तो कर्मों का आना रुक जावेगा। यही संवर है। यह दो प्रकार का होता है-भाव संवर और द्रव्यसंवर।

(1) भावसंवर—आत्मा के जिन भावों (व्रत, संयम, गुप्ति आदि) से कर्मों का आना रुकता है, वह भावसंवर है।

(2) द्रव्यसंवर—जिन परिणामों से पुद्गल कर्मों का आत्मा की ओर आकृष्ट होने की शक्ति का क्षय हो जाता है, वह द्रव्यसंवर है।

भावसंवर व द्रव्यसंवर दोनों ही एक साथ एक समय में होते रहते हैं। संवर से मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है।

संवर के भेद (Kinds of *Samvar*)—संवर के 57 भेद हैं अर्थात् इनसे कर्मों का आना रुक जाता है। ये निम्न प्रकार हैं—

तीन गुप्ति (Three Self-Guards)—तीनों प्रकार के योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना अथवा मन, वचन, काय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। संसार के कारणभूत राग आदि से जो रक्षा करे वह गुप्ति कहलाती है। जैसे खेत की रक्षा हेतु बाड़ और नगर की रक्षा हेतु कोट/खाई होती है, वैसे ही साधु की पापों से रक्षा हेतु तीन गुप्तियां परम उपाय है। इनका विवरण निम्न प्रकार है—

1. मनोगुप्ति—मन को वश में करना और राग, द्वेष, मोह आदि भावों का परिहार करना अर्थात् मन में बुरे संकल्प, विकल्प नहीं आने देना मनोगुप्ति है।

2. वचन गुप्ति—वाणी को वश में करना और आगम के अनुसार वचन बोलना वचन गुप्ति है।

3. काय गुप्ति—अपने शरीर को वश में करना अर्थात् शरीर द्वारा होने वाली पाप क्रियाओं का त्याग करना काय गुप्ति है।

पाँच समिति (Five Carefulnesses)—

सम्यक्रूप (भली प्रकार) से प्रवृत्ति करने को समिति (carefulness) कहते हैं। प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने की दृष्टि से और दया भाव से सावधानीपूर्वक आहार, विहार और निहार आदि की क्रिया करना समिति है। ये 5 प्रकार की होती हैं-

1. ईर्यासमिति—ईर्या का अर्थ होता है गति, गमन। जीवों को पीड़ा न पहुँचाने की दृष्टि से मार्ग में चार हाथ आगे देखकर चलना ईर्या समिति है। इस ही वजह से साधु सवारी का उपयोग नहीं करते हैं।

2. भाषा समिति—हित, मित, प्रिय, शास्त्रोक्त वचन बोलना तथा कटु-वचन, परनिंदा, चुगली, हंसी, आत्म प्रशंसा आदि का त्याग करना भाषा समिति है।

3. एषणा समिति—जीवन पर्यन्त सुकुल श्रावक द्वारा दिया गया निर्दोष आहार समतापूर्वक ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना एषणा समिति है।

4. आदान-निक्षेपण समिति—ज्ञान व संयम में सहायक पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र आदि उपकरणों को देखभाल कर उठाना-रखना आदान-निक्षेपण समिति है। इन उपकरणों को भूमि/पाटियें आदि पर रखने से पूर्व उस स्थान को पिच्छी से साफ करके ही रखते है। और उठाते समय भी पिच्छी फेरकर ही उपकरणों को उठाते हैं।

5. प्रतिष्ठापन (उत्सर्ग) समिति—जहाँ जीवों की विराधना न हो, ऐसे जीव-जन्तु रहित स्थान पर सावधानीपूर्वक मल-मूत्र कफ आदि का विसर्जन करना प्रतिष्ठापन (उत्सर्ग) समिति है।

दशधर्म (Ten Religions)—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य।

बारह भावना (Twelve Contemplations)—अनित्य भावना, अशरण भावना, संसार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचि भावना, आस्रव भावना, संवर भावना, निर्जरा भावना, लोक भावना, बोधि-दुर्लभ भावना, धर्म भावना।

बाईस परीषह जय (Conquest on Twenty-two Types of Afflictions)—

परीषह का अर्थ है—परी (सब ओर से) + षह (सहन करना)। आंतरिक संवेदनाओं से तथा बाह्य संयोगों-वियोगों से उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों तथा दुःखों को समतापूर्वक सहन करना ही परीषह जय है। मुनिराजों को इन बाधाओं के आने पर पीड़ा का अनुभव तो होता है, किन्तु वे इन्हें कर्मों की निर्जरा हेतु समतापूर्वक सहते हैं। परीषह 22 प्रकार के होते हैं। इनको जीतने से चारित्र में दृढ़ निष्ठा होती है और कर्मों का संवर होता है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है—

1. **क्षुधा परीषह**—भूख की बाधा को सहना।
2. **तृषा परीषह**—प्यास के दुःख को सहना।
3. **शीत परीषह**—सर्दी के दुःख को सहना।
4. **उष्ण परीषह**—गर्मी के दुःख को सहना।
5. **दंशमशक परीषह**—मच्छर, डांस, बिच्छू आदि के काटने के दुःख को सहना।
6. **नग्नता परीषह**—नंगे रहकर भी ग्लानि, लज्जा, विकार नहीं करना।
7. **अरति परीषह**—अनिष्ट वस्तु पर द्वेष नहीं करना तथा भोग सामग्री के प्रति उदासीन रहना।
8. **स्त्री परीषह**—ब्रह्मचर्य व्रत को डिगाने हेतु स्त्री द्वारा किये जाने वाले उपद्रव होने पर भी विकार नहीं करना।
9. **चर्या परीषह**—चलते समय पैर के नीचे पत्थर, कंकर आने पर होने वाले दुःख को सहना।
10. **निषद्या (आसन) परीषह**—उपसर्ग आने पर संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना।
11. **शय्या परीषह**—जमीन या पाटे पर एक करवट से सोने पर होने वाले दुःख को सहन करना।
12. **आक्रोश परीषह**—किसी के द्वारा गाली आदि देने पर भी क्रोध नहीं करना।
13. **वध परीषह**—किसी के द्वारा मारने-पीटने पर भी क्लेश नहीं करना।
14. **याचना परीषह**—भूख लगने या बीमारी आदि होने पर भी किसी से किसी वस्तु की याचना नहीं करना।
15. **अलाभ परीषह**—भोजन आदि नहीं मिलने पर या अन्तराय हो जाने पर क्लेश नहीं करना।
16. **रोग परीषह**—बीमारी हो जाने पर दुःख नहीं करना।
17. **तृणस्पर्श परीषह**—शरीर में तृण, कांटा, सुई आदि चुभने पर भी निश्चल रहना।
18. **मल परीषह**—शरीर में पसीना आने या मिट्टी जम जाने पर भी क्लेश नहीं करना और स्नान नहीं करना।
19. **सत्कार-पुरस्कार परीषह**—किसी के द्वारा सत्कार, नमस्कार, विनय आदि नहीं करने पर भी बुरा नहीं मानना।
20. **प्रज्ञा परीषह**—अधिक विद्वान् हो जाने पर भी मान नहीं करना।
21. **अज्ञान परीषह**—ज्ञान प्राप्ति के लिये अनेक उपाय करते रहने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होने का दुःख नहीं मानना।
22. **अदर्शन परीषह**—बहुत समय तक तपस्या आदि करने पर भी किसी फल की प्राप्ति नहीं होने पर भी सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं होना।

चारित्र (Conduct)—आत्म स्वरूप में स्थिर होना चारित्र है। यह पाँच प्रकार का निम्नानुसार है—

(1) सामायिक चारित्र—समस्त सावद्य योग (मन-वचन-काय की हिंसाजनक प्रवृत्ति) का त्याग करना, सब जीवों में समता भाव रखना, सुख-दुख में समान रहना, शुभ-अशुभ विकल्पों का त्याग करना सामायिक चारित्र है।

(2) छेदोपस्थापना चारित्र—प्रमादवश व्रतों में दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त आदि द्वारा उसका शोधन करके पुनः व्रतों में स्थापित हो जाना छेदोपस्थापना चारित्र है।

(3) परिहार विशुद्धि चारित्र—प्राणी हिंसा से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। राग-द्वेष विकल्पों का त्याग कर आत्मा की शुद्धि करना परिहार विशुद्धि चारित्र है।

(4) सूक्ष्म साम्पराय चारित्र—सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। अतः सूक्ष्म लोभ कषाय मात्र के रह जाने को सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं।

(5) यथाख्यात चारित्र—समस्त मोहनीय कर्म प्रकृतियों के क्षीण हो जाने पर जो स्वाभाविक पूर्ण वीतराग चारित्र उत्पन्न होता है, वह यथाख्यात चारित्र है।

3.2 निर्जरा तत्त्व [*Nirjara* (Shedding) *Tattva*]—

प्रत्येक कर्म के आत्मा के साथ बंधने के समय उसकी जो प्रकृति होती है, उसी के अनुसार आत्मा को भला-बुरा फल देकर कर्म का आत्मा से झड़ जाना निर्जरा है। इस प्रकार आत्म प्रदेशों के साथ बंधे हुए कर्मों के अंशतः क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। आत्मा का वह परिणाम जो निर्जरा में कारण है, वह भाव निर्जरा है और बंधे हुए कर्मों का आंशिक निर्जरित होना द्रव्य निर्जरा है।

निर्जरा दो प्रकार की होती है—सविपाक और अविपाक।

(1) सविपाक निर्जरा—यथा काल अर्थात् क्रम से परिपाक काल आने पर जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर निवृत्त होते हैं, वह सविपाक निर्जरा है। जैसे फल का पक कर डाली से गिर जाना। यह संसारी प्राणियों के निरंतर होती रहती है।

(2) अविपाक निर्जरा—बंधे हुए कर्मों का उदय काल आने से पूर्व ही तप आदि द्वारा उदय में लाकर क्षय करना अविपाक निर्जरा है। जैसे बिना पके आम, केले आदि को पेड़ से तोड़ने के बाद पाल में दबाकर (उष्मा देकर) समय से पूर्व पका लिया जाता है। उदयावली में तो सभी कर्म आते हैं, किन्तु अविपाक निर्जरा में उनका अनुभव नहीं किया जाता है और सविपाक निर्जरा में अनुभव किया जाता है। इस प्रकार परिपाक काल आने से पूर्व कर्मों को गला दिया जाता है। यही अविपाक निर्जरा है। अविपाक निर्जरा सम्यक्दृष्टि, व्रतधारी तथा मुनिराजों के होती है। मोक्ष मार्ग में यही उपयोगी है।

3.3 निर्जरा तप से होती है (Shedding is caused by Austerity)—

बारह प्रकार के तप आगम में बताये गये हैं।

इच्छाओं का निरोध करना तप है। तप का अर्थ है "तपाना"। जिस प्रकार तपाने से सोने का मैल दूर होकर वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तप करने से आत्मा का कर्म रूपी मैल दूर होकर वह शुद्ध अवस्था को प्राप्त करती है। इस प्रकार तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। तप द्वारा मन रूपी हाथी पर नियंत्रण रखा जा सकता है। ये तप 12 होते हैं—6 बाह्य तप और 6 अभ्यन्तर तप।

बाह्य तप (6)—जो तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है और दूसरे को दिखाई दे वह बाह्य तप है। यह छः प्रकार का होता है—

1. अनशन—आन्तरिक बल की वृद्धि के लिये अन्न, जल आदि सभी चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन (उपवास) तप है।

2. अवमौदर्य (ऊनोदर)—स्वाभाविक आहार अर्थात् सामान्य भूख से कम मात्रा में भोजन ग्रहण करना अवमौदर्य अथवा ऊनोदर तप है।

3. वृत्तिपरिसंख्यान—आहार हेतु जाते समय साधु का दाता, घर आदि के बारे में संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है। कितने घरों पर जाऊँगा, कितने दाताओं से आहार लूंगा, आहार में क्या ग्रहण करूंगा आदि अनेक प्रकार के संकल्प करना इसमें सम्मिलित है।

4. रस परित्याग—भोजन के छः रसों (दूध, दही, घी, तेल, मीठा और नमक) का त्याग करना अथवा इनमें से एक या अधिक रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

5. विविक्त शय्यासन—राग-द्वेष आदि उत्पन्न करने वाले आसन या शय्या का त्याग करके एकान्त स्थान पर जो शय्या और आसन ग्रहण किया जाता है, वह विविक्त शय्यासन तप है।

6. काय-क्लेश—शरीर को सुख मिलने की इच्छा का त्याग करना काय-क्लेश है। 22 परीषह (सर्दी, गर्मी आदि बाधाओं) का सहन करना भी इस तप में आता है।

अभ्यन्तर तप (6)—जो तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखता है, वह अभ्यन्तर तप है। यह मन का नियमन करने वाला होता है। बाह्य तप की अपेक्षा अभ्यन्तर तप का फल विशेष होता है। यह 6 प्रकार का होता है:-

1. प्रायश्चित्त—प्रमादवश मूलगुणों में जो दोष लग जाते हैं, उनके निराकरण हेतु गुरु से जो प्रायश्चित्त ले कर उपवास आदि किये जाते हैं, वह प्रायश्चित्त तप है।

2. विनय—रत्नत्रय धारण करने वालों के प्रति नम्रता व विनय भाव रखना विनय तप है।

3. वैयावृत्य—गुणी जनों की जो सेवा-सुश्रुषा की जाती है वह वैयावृत्य तप कहलाता है।

4. स्वाध्याय—आत्म हित की भावना से सत्-शास्त्रों का वाचन, पठन, मनन करना, उपदेश करना स्वाध्याय है।

5. व्युत्सर्ग—अहंकार व ममकार का त्याग करना व्युत्सर्ग है। शरीर एवं अन्य समस्त वस्तुओं से ममत्व छोड़कर एक मुहूर्त, एक दिन या एक माह आदि अवधि के लिये आत्मस्थ रहना व्युत्सर्ग तप है।

6. ध्यान—चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है।

3.4 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-संवर तत्त्व को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 2-संवर तत्त्व के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 3-निर्जरा किसे कहते हैं, निर्जरा कितने प्रकार की होती है ?

प्रश्न 4-बाह्य तप के भेदों का वर्णन कीजिए ?

पाठ-4–मोक्ष तत्त्व [*Moksha* (Liberation) *Tattva*]

4.1 मोक्ष (*Moksha*, Liberation)—

आत्मा से समस्त कर्मों का पूर्णरूपेण क्षय हो जाना अर्थात् आत्मा का सर्वथा शुद्ध हो जाना मोक्ष तत्त्व है। समस्त कर्मों से रहित आत्मा के स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि गुण और अव्याबाध सुख रूप अवस्था उत्पन्न होती है। इसी का नाम मोक्ष है। इसके भी दो भेद हैं–भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष।

(1) भाव मोक्ष—आत्मा के जिन भावों से सम्पूर्ण कर्म अलग होते हैं, वह भाव मोक्ष है।

(2) द्रव्य मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से छूट जाना द्रव्य मोक्ष है।

मुक्तात्मा के दो भेद—1. जीवन मुक्त, 2. कर्म मुक्त।

जीवन मुक्त—घातिया कर्म नष्ट कर प्राप्त अर्हन्त केवली की अवस्था। इनका अब पुनः जन्म नहीं होगा।

कर्ममुक्त—घातिया के साथ अघातिया कर्म नष्ट करने पर प्राप्त सिद्धावस्था।

मोक्ष के बाद जीव की अवस्थिति—कर्ममुक्ति के बाद जीव अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाता है। धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण लोकाग्र के आगे जीव की गति नहीं रहती।

4.2 जीव के ऊर्ध्वगमन में हेतु (Causes of Upward Movement of Liberated Soul)—

(1) पूर्व प्रयोग
(2) असंग
(3) बंधच्छेद
(4) तथागति परिणाम

मुक्त जीव का पुनरागमन नहीं–जैसे दूध से निकला हुआ घी फिर पुनः दूध रूप परिणत नहीं होता अथवा बीज को दग्ध कर देने पर वह बीज पुनः अंकुरित नहीं होता। उसी प्रकार राग–द्वेष का अभाव हो जाने से शुद्ध/सिद्ध अवस्था को प्राप्त मुक्त आत्माओं का संसार में पुनरागमन नहीं होता।

संसार कभी खाली (शून्य) नहीं होगा–जिस प्रकार भविष्यत काल संबंधी समयों के क्रमशः व्यतीत होने पर यद्यपि भविष्यकाल के समयों की राशि में कमी होती है, फिर भी उसका अंत नहीं होता। इसी प्रकार मुक्त जीवों के पुनरागमन न होने पर तथा संसारी जीवों के निरन्तर मोक्ष गमन हेतु रहने पर भी संसार के खाली होने की स्थिति (जीव राशि का अंत/शून्यता) कभी नहीं बनती। क्योंकि जीव राशि अनन्त है। अब यदि जीवों के मोक्ष जाने से खाली होना मानें तो पूर्वकाल में बहुत से जीव मोक्ष गये हैं, तब भी इस समय जगत में जीवों की शून्यता दिखाई क्यों नहीं पड़ती ? तथा अभव्य जीव एवं अभव्यों के समान दूरान्दूर भव्य जीवों को मोक्ष नहीं फिर संसार जीवों से खाली कैसे होगा ? तथा आगम में यह भी कहा है कि एक निगोदिया जीव के शरीर में समस्त सिद्धों से अनन्तगुणी जीव राशि समाहित है।

अनन्त-जिसका कोई अन्त न हो अथवा जो राशि आय रहित और व्यय सहित होने पर भी अव्यय अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहे, वह अनन्त है। यथा समुद्र का जल अथवा भविष्यत्काल।

4.3 सिद्धों के गुण (Virtues of Liberated Souls)—

सिद्धात्माओं में अनन्त गुण हैं। जिनमें प्रमुख आठ गुण इस प्रकार हैं—

सम्मत्तणाण दंसण, वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।

(1) क्षायिक सम्यक्त्व
(2) अनन्तज्ञान
(3) अनन्तदर्शन
(4) अनन्तवीर्य
(5) सूक्ष्मत्व
(6) अवगाहनत्व

(7) अगुरुलघुत्व (8) अव्याबाधत्व।

सिद्धावस्था में कभी परिवर्तन संभव है क्या ?

मुक्त जीवों को प्राप्त शुद्ध/सिद्ध अवस्था में कभी भी विकार या परिवर्तन संभव नहीं है।

कहा भी है- **काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।**
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः।। (रत्न. श्रा.133)

सिद्धालय में विराजमान सिद्ध क्या करते रहते हैं ?

मुक्त परमात्मा अपने केवलज्ञान के द्वारा तीन लोक और त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्यों, गुण तथा उनकी पर्यायों को जानते रहते हैं। केवलदर्शन के द्वारा आत्मा के स्वरूप को अवलोकते रहते हैं तथा निजात्मा से उत्पन्न अनन्त सुख का अनुभव करते रहते हैं। वे प्रभु कृतकृत्य हो चुके हैं इसलिए उन्हें कुछ भी क्रिया/कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो अपने अनन्त गुणों के शुद्ध स्वभाव का ही अनुभव करते रहते हैं।

4.4 कौन से तीर्थंकर किस स्थान से मुक्त हुए हैं ? (Which Teerthankar got Liberation from which place)—

मंगलाष्टक स्तोत्र में कहा है—

कैलासे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे,
चम्पायां वसुपूज्यसज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम्।
शेषाणामपि चोजर्यन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो,
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु मे मङ्गलम्।।

आदिनाथ-अष्टापद (कैलाश पर्वत), वासुपूज्य-चम्पापुर, नेमीनाथ-गिरनार, महावीर-पावापुर तथा शेष 20 तीर्थंकर-सम्मेदशिखर से मुक्त हुए हैं।

प्रथम और अंतिम मोक्षगामी- भगवान आदिनाथ के पुत्र और भरत के भाई 'अनन्तवीर्य' इस अवसर्पिणी काल में प्रथम मोक्षगामी हुए तथा अंतिम मोक्षगामी 'श्रीधर' स्वामी ने कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर, दमोह, म.प्र.) से मोक्ष प्राप्त किया।

4.5 मोक्ष संबंधी कुछ ज्ञातव्य बातें (Some Pecularities about Liberation)—

1. निर्ग्रन्थ दिगम्बर रत्नत्रयधारी भव्य पुरुष ही मुक्ति के पात्र होते हैं।

2. स्थान (संहरण) की अपेक्षा ढ़ाई द्वीप मात्र से ही मुक्ति होती है।

3. अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा नामक तीसरे काल के अंतिम भाग से लेकर दुषमा-सुषमा नामक चतुर्थ काल के अंत तक उत्पन्न हुए जीव ही मुक्त होते हैं।

4. चतुर्थ काल में उत्पन्न हुआ जीव पंचम काल में मुक्त हो सकता है, किन्तु पंचम काल में जन्मा जीव पंचम काल में मुक्त नहीं हो सकता।

5. लोक के अंत में 45 लाख योजन (दो हजार कोश वाला महायोजन) (1 कोश 2 मील) विस्तीर्ण सिद्ध शिला है। मुक्त जीव उसी के ऊपर तनुवातवलय में ठहर जाता है। मोक्ष में मुक्त जीवों के शिर एक बराबर स्थान पर रहते हैं, नीचे अवगाहनारूप अन्तर रहता है।

4.6 अन्य दर्शनों (मतों) में मोक्ष का स्वरूप (Nature of *Moksha* (Liberation) According to other Philosophies)—

1. सांख्यों ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों का सदा के लिए दूर हो जाना मोक्ष माना है, तथापि वे आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानते हुए भी उसे ज्ञानरहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान-धर्म

प्रकृति का है, तो भी संसर्ग से पुरुष अपने को ज्ञानवान अनुभव करता है और प्रकृति अपने को चेतन अनुभव करती है। इसी से सांख्यों के मोक्ष तत्त्व की आलोचना न करके पुरुष तत्त्व की आलोचना की गई है और उसे असत् बतलाया गया है।

2. वैशेषिकों ने ज्ञानादि विशेष गुणों को समवाय संबंध से यद्यपि आत्मा में स्वीकार किया है तथापि वे आत्मा से उनके उच्छेद हो जाने को उसकी मुक्ति मानते हैं उनके यहाँ बतलाया गया है कि बुद्धि आदि विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा और मन के संयोगरूप असमवायी कारण से होती है। मोक्ष अवस्था में चूँकि आत्मा और मन का संयोग नहीं रहता, अतः वहाँ विशेष गुणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। उनके यहाँ सभी व्यापक द्रव्यों के विशेष गुण क्षणिक माने गये हैं, इसलिए वे मोक्ष में ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव होने में आपत्ति नहीं समझते। अब यदि राग-द्वेषादि की तरह मुक्तावस्था में आत्मा को ज्ञानादि गुणों से भी रहित मान लिया जाये, तो आत्मा स्वतंत्र पदार्थ नहीं ठहरता, क्योंकि जिसका किसी प्रकार का विशेष लक्षण नहीं पाया जाता, तो वह वस्तु ही नहीं हो सकती। यही कारण है कि इनकी मान्यता को भी असत् बतलाया गया है।

3. तीसरा मत **बौद्धों** का है—बौद्धों के यहाँ सोपधिशेष और निरुपधिशेष ये दो प्रकार के निर्वाण माने गये हैं। सोपधिशेष निर्वाण में केवल अविद्या, तृष्णा आदि रूप आस्रवों का ही नाश होता है, शुद्ध चित्सन्तति शेष रह जाती है। किन्तु निरुपधिशेष निर्वाण में चित्सन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहाँ मोक्ष के इस दूसरे भेद को ध्यान में रखकर उसकी मीमांसा की गई है। इस संबंध में बौद्धों का कहना है कि दीपक के बुझा देने पर जिस प्रकार वह ऊपर-नीचे, दायें-बायें, आगे-पीछे कहीं नहीं जाता किन्तु वहीं शात हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा की संतान का अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। इसके बाद आत्मा की संतान नहीं चलती, वह वहीं शांत हो जाती है। बौद्धों के इस तत्त्व की मीमांसा करते हुए जैनाचार्यों ने उनकी इस कल्पना को असत् ही बतलाया है।

कर्मों की निर्जरा समय-समय पर होती रहती है। किन्तु इससे मुक्ति प्राप्त होने वाली नहीं है क्योंकि प्रति समय नये-नये कर्म आत्मा से बंधते रहते हैं। अतः मोक्ष प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि निर्जरा के साथ संवर भी हो अर्थात् पूर्व में बंधे कर्मों का क्षय किया जावे और नवीन कर्मों को आने से रोका जावे। जैसे टंकी में आने वाले पानी को यदि रोका नहीं जावे तो कितने ही प्रयास करने पर भी टंकी खाली करना संभव नहीं है। अतः निर्जरा के साथ-साथ संवर भी आवश्यक है।

हेय, उपादेय, ज्ञेय तत्त्व—जो छोड़ने योग्य है वह हेय है, जो ग्रहण किये जाने योग्य है वह उपादेय है और जो जानने योग्य है वह ज्ञेय है। इन सातों तत्वों का ज्ञान होना अपेक्षित है। इनमें से आस्रव व बंध तत्त्व हेय हैं, क्योंकि वे संसार भ्रमण के कारण हैं। संवर व निर्जरा तत्त्व उपादेय हैं, क्योंकि वे संसार से मुक्ति का कारण हैं। जीव व अजीव तत्त्व ज्ञेय हैं और मोक्ष तत्त्व परम उपादेय है।

4.7 पदार्थ का वर्णन (Description of Substance)-

जो जाना जावे या निश्चित किया जावे, उसे अर्थ या पदार्थ कहते हैं। इस विश्व में जो जानने में आने वाले पदार्थ हैं, वे समस्त द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय हैं। मोक्ष मार्ग में जानने योग्य 9 पदार्थ हैं-सात तत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष) और पाप व पुण्य।

पाप—अशुभ कर्मों को पाप कहते हैं। आत्मा को जो पतित करे या शुभ से दूर रखे अर्थात् जिसके उदय से आत्मा को दु:खदायी सामग्री मिले, वह पाप है। जैसे बीमारी होना, पुत्र आदि का मरना, धन चोरी होना आदि। ये सब पाप के उदय से ही समझना चाहिए। कषाय, सप्त व्यसन आदि बुरे कर्म करने से पाप का बन्ध होता है। पाप पांच प्रकार का होता है-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ।

पुण्य—शुभ कर्मों को पुण्य कहते हैं। जो आत्मा को पवित्र अर्थात् सुखी करे, अर्थात् जिसके उदय से जीव को सुखदायक व प्रिय वस्तुएं मिलें, वह पुण्य कहलाता है। जैसे व्यापार में लाभ होना, पुत्र की उच्च पद पर नियुक्ति होना

आदि। ये सब पुण्य के उदय से ही समझना चाहिए। जीव दया करना, पूजा-दान आदि धार्मिक क्रियाएं करने से पुण्य का बंध होता है।

पाप व पुण्य दोनों से कर्मों का आस्रव बंध होता है, अतः ये दोनों संसार के कारण हैं। परन्तु जीव को सदा सत्कर्म करने का उपदेश भी दिया गया है जिससे पुण्य का संचय होता है जो परम्परा से मोक्ष का कारण होने से कथंचित् इष्ट है।

पाप से नरक तिर्यंच गति, पुण्य से देवगति, पाप-पुण्य दोनों के मेल से मनुष्य गति तथा दोनों के क्षय से पंचम (मोक्ष) गति प्राप्त होती है।

4.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-मोक्ष तत्त्व को परिभाषित कीजिए ? यह कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 2-जीव के ऊर्ध्वगमन के कौन-कौन से हेतू हैं ?

प्रश्न 3-कौन से तीर्थंकर किस स्थान से मुक्त हुए हैं ?

प्रश्न 4-सिद्धों के प्रमुख आठ गुण कौन-कौन से हैं ?

इकाई–2 द्रव्य, गुण, पर्याय एवं जीव द्रव्य
(Realities, Attributes, Modes and Soul-Reality)

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) द्रव्य-विवेचन, गुण पर्याय का स्वरूप

(2) जीव द्रव्य, इन्द्रियों की अपेक्षा भेद

(3) गतियों की अपेक्षा व अन्य अपेक्षा से जीवों के भेद

(4) विभिन्न दर्शनों के अनुसार जीव का स्वरूप

(5) जीव के नौ अधिकार

पाठ-1–द्रव्य-विवेचन, गुण पर्याय का स्वरूप
(Description of Realities and Nature of Attributes and Modes)

1.1 द्रव्य का स्वरूप (Nature of Realities)—

जैन दर्शन में पदार्थ को सत् कहा गया है। सत् द्रव्य का लक्षण है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। सारा विश्व परिवर्तन की धारा में बहा जा रहा है। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती रही है सब कुछ बदल रहा है। वह देखो! सामने पेड़ खड़ा है, उसमें कोपलें फूट रही हैं, पत्तियाँ बढ़ रही हैं, वे झड़ रहे हैं, प्रतिक्षण वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर नित नवीन रूप धर रहा है। बालक युवा हो रहा है, युवा वृद्ध हो रहा है, वृद्ध मर रहा है। सर्वत्र परिवर्तन ही परिवर्तन है। चाहे जड़ हो या चेतन सभी इस परिवर्तन की धारा में बहे जा रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ विश्व के रंगमंच पर प्रतिक्षण नया रूप धर कर आ रहे हैं। वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़ता है, नए को ओढ़ता है। पुराने का विनाश और नए की उत्पत्ति ही इस परिवर्तन का आधार है। कच्चे आम का पक जाना ही तो आम का परिवर्तन है। बालक का युवा, युवा का वृद्ध हो जाना ही तो मनुष्य का परिवर्तन है। पुरानी अवस्था के विनाश को व्यय कहते हैं तथा नयी अवस्था की उत्पत्ति को उत्पाद। नये की उत्पत्ति और पुराने के विनाश के बाद भी द्रव्य अपनी मौलिकता को नहीं खोता। कच्चा आम बदलकर भले ही पक जाये, परन्तु वह अपने आमपने को नहीं खोता। बालक भले ही वृद्ध हो जाये पर मनुष्यता नहीं बदलती। इस मौलिक स्थिति का नाम ध्रौव्य है, जो प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के बाद भी पदार्थ में समरूपता बनाए रखता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत् का कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नहीं है।

पुरानी अवस्था का विनाश और नए की उत्पत्ति दोनों साथ-साथ होती है, प्रकाश के आते ही अंधकार तिरोहित हो जाता है। इनमें कोई समय भेद नहीं है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है, यह बात अलग है कि सूक्ष्म होने के कारण वह हमारी पकड़ के बाहर है। बालक यौवन और प्रौढ़ अवस्थाओं से गुजरकर ही वृद्ध हो पाता है। ऐसा नहीं है कि कोई साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में एकाएक वृद्ध हो गया वह तो साठ-सत्तर वर्ष तक निरंतर वृद्ध हुआ है, तब कहीं वृद्ध बन पाया है। वृद्ध होने की यात्रा प्रतिक्षण हुई है। यदि एक क्षण भी वह रुक जाये तो वह वृद्ध हो ही नहीं सकता।

1.2 नित्या-नित्यात्मकता (Permanency and Im-permanency)—

प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने के कारण द्रव्य अनित्य है तथा परिवर्तित होते रहने के बाद भी वह अपने मूल में अपरिवर्तित है, अतः द्रव्य नित्य भी है। इसलिए जैनदर्शन में द्रव्य को नित्यानित्यात्मक कहा गया है। यदि द्रव्य सर्वथा नित्य होता तो जगत के सारे पदार्थ कूटस्थ हो जाते। न तो नदियाँ बह पातीं, न ही पेड़ों के पत्ते हिल पाते। बालक, बालक

ही रहता, वह युवा न हो पाता, युवा युवा ही रहता, वह वृद्ध नहीं हो पाता, वृद्ध वृद्ध ही रहता, वह मर न पाता। जो जैसा है वह वैसा ही रहता। यदि पदार्थ अनित्य ही होता तो प्रतिक्षण बदलाव होते रहने के कारण हम एक-दूसरे को पहचान ही नहीं पाते। प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन की इस दौड़ में किसी का किसी से परिचय ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में न तो हमें कोई स्मृति होती, न ही होते हमारे कोई संबंध। जबकि ऐसा है ही नहीं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष और अनुभव के विपरीत है। अतः जैनदर्शन में पदार्थ को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।

नित्यानित्यात्मक होने के कारण द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है। गुण पदार्थ का नित्य अंश है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता। उसकी अवस्थाएँ/पर्यायें बदलती रहती हैं। पदार्थ अनेक गुणों का समूह है। उनमें होने वाला परिवर्तन ही पर्याय है। प्रत्येक गुण द्रव्य आश्रित रहता है किन्तु स्वयं गुण हीन होता है। इसलिए यह गुण होकर भी निर्गुण कहलाता है। गुण पदार्थ में सर्वत्र रहते हैं। ऐसा नहीं है कि वह पदार्थ के किसी एक अंश में रहता हो, वह तो तिल में तेल की तरह पूरे पदार्थ में व्याप्त होकर रहता है। सर्वत्र होने के साथ-साथ यह सर्वदा पाया जाता है, इसलिए इसे नित्य कहते हैं। पर्यायें क्षणक्षयी होती हैं, प्रतिक्षण मिटते रहने के कारण ये (पर्यायें) अनित्य कहलाती हैं।

समझने के लिए, आम एक पदार्थ है। स्पर्श, रस, गंध तथा रूप इसके गुण हैं। इन गुणों का समूह ही आम है। यदि इन्हें पृथक कर लिया जाये, तो आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता। किन्तु इन्हें पृथक किया ही नहीं जा सकता। ये द्रव्य के अनन्य अंग हैं। द्रव्य से इनका नित्य संबंध रहता है। आम का स्वाद, रंग, गंध और स्पर्श रूप गुण आम के रग-रग में समाये हैं। इनके अतिरिक्त आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता। अतः वस्तु गुणों का समूह रूप है। इन गुणों में परिवर्तन होता रहता है। आम खट्टे से मीठा, मीठे से कड़वा, कड़वे से कसैला हो सकता है, उसका हरा रंग बदलकर पीला या काला हो सकता है, वह कठोर से मृदु अथवा पिलपिले स्पर्श वाला हो सकता है, सुगंधित से वह दुर्गंधित भी हो सकता है। ये सब पूर्वोक्त चार गुणों की अवस्थाएँ हैं। किन्तु गुणों में परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता। उसका रंग बदलकर रस नहीं होता, रस बदलकर रंग नहीं बन सकता। उसी तरह गंध और स्पर्श भी अपने मूल रूप में नहीं बदलते। गुण त्रैकालिक होते हैं। यही गुणों की नित्यता है। पर्यायों में परिवर्तन होते रहने के कारण उन्हें अनित्य कहते हैं।

इस प्रकार गुण भी सत्, द्रव्य की तरह नित्यानित्यात्मक है। चूँकि सत् नित्यानित्यात्मक है, इसलिए उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला कहा गया है। गुण नित्य है, पर्याय अनित्य हैं, इसलिए द्रव्य को गुण पर्याय वाला भी कहते हैं। इन तीनों लक्षणों में ऐक्य है इसलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय ग्रंथ में द्रव्य का लक्षण तीनों प्रकार से किया है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय धुवत्त संजुत्तं।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु।।10।।

अर्थात् भगवान जिनेन्द्र द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

1.3 उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का उदाहरण (Example of Origination, Destruction and Permanence)—

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में एक उदाहरण से द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता की सुंदर प्रस्तुति की है—

घट मौलि सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्।।59।।

एक राजा है जिसकी एक पुत्री है और एक पुत्र। राजा के पास सोने का घड़ा है, पुत्री उसे चाहती है। पुत्र उसे तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की भावना को पूर्ण करने के लिए घड़े को तोड़कर मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है, पुत्र आनंदित होता है। राजा स्वर्ण का इच्छुक है, जो कि घट के टूटने और मुकुट के बनने

दोनों में समान है। इसलिए वह मध्यस्थ रहता है। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

द्रव्य के लक्षण (Characteristics of Realities)—

"सत् द्रव्य लक्षण्" द्रव्य का लक्षण सत् है और "उत्पाद-व्यय- ध्रौव्य-युक्तं सत्" अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है, वह सत् है। "गुण-पर्ययवद्-द्रव्यम्" अर्थात् गुण व पर्याय वाला द्रव्य है। इस प्रकार जो सत् लक्षण वाला है, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से युक्त है तथा जो गुण व पर्याय वाला है, उसे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य में तीन लक्षण पाये जाते हैं-

1.4 सत् का विवेचन (Description of Existent)—

द्रव्य का प्रथम लक्षण सत् है। सत् का अर्थ अस्तित्व (Existence) है। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (नित्यता) पाया जावे वह सत् कहलाता है। सत् का कभी नाश नहीं होता है और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता है। लोक में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका सर्वथा विनाश होता हो अथवा जिसका नये सिरे से उत्पाद होता हो, उनकी मात्र पर्याय बदलती है। उत्पाद से अर्थ है पुरानी पर्याय को छोड़कर नई पर्याय का बनना, व्यय से अर्थ है पुरानी पर्याय का नष्ट होना और ध्रौव्य से अर्थ है मूल स्वभाव का सभी पर्यायों में बने रहना। पुरानी अवस्था का नाश और नवीन की उत्पत्ति युगपत् एक ही समय में होती है।

उदाहरण—सोने के हार को गलाकर चूड़ी बना लेते हैं तो पूर्व पर्याय (हार) का नाश होकर नई पर्याय (चूड़ी) बन गई मगर दोनों दशाओं में सोने का मूल तत्त्व बना रहा। इसी प्रकार जीव मनुष्य गति से देव या अन्य गति में जाता है तो मनुष्य पर्याय का नाश हुआ और नई पर्याय (देव आदि) बनी, लेकिन जीव का स्वभाव (चैतन्यता) दोनों पर्यायों में बना रहा।

गुण-समुदाय (Group of Attributes)—

यह द्रव्य का दूसरा लक्षण है। जो द्रव्य के साथ रहे और द्रव्य से अलग नहीं किया जा सके, वह गुण कहलाता है। द्रव्य के समस्त भागों और समस्त अवस्थाओं (पर्यायों) में गुण रहता है। जैसे जीव का गुण ज्ञान है। वह जीव चाहे निगोद में रहे, चाहे किसी गति में रहे, चाहे मोक्ष चला जावे, यह ज्ञान गुण उसमें सदा रहता है। इसी गुण के कारण आत्मा को ज्ञानमय कहते हैं।

1.5 गुण दो प्रकार के होते हैं (Two types of Attributes)—

सामान्य और विशेष के भेद से गुण दो प्रकार के होते हैं। उनका कथन प्रस्तुत है—

(1) सामान्य गुण—जो सभी द्रव्यों में पाया जावे वह सामान्य गुण कहलाता है। लोक में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें ये गुण नहीं हों। सामान्य गुण अनेक होते हैं। किन्तु उनमें छः मुख्य हैं-

(क) अस्तित्व (अस्ति) गुण—जिस शक्ति के कारण द्रव्य में विद्यमानपना है, वह अस्तित्व गुण है। इस गुण के कारण द्रव्य कभी नाश को प्राप्त नहीं होता है, वह हमेशा अस्तित्व में बना रहता है। सभी द्रव्यों में यह गुण विद्यमान रहता है। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वयं से होती है। यही अस्ति गुण है। द्रव्य को किसी ने बनाया नहीं है और न उसे कोई मिटा ही सकता है। मात्र पर्याय बदलती रहती है।

(ख) वस्तुत्व गुण—जिस शक्ति के कारण द्रव्य में प्रयोजन भूत क्रिया हो, वह वस्तुत्व गुण है। जैसे घड़े की अर्थ-क्रिया जल धारण करना है। इसी गुण के कारण द्रव्य को वस्तु कहते हैं। इस लोक में प्रत्येक वस्तु अपने प्रयोजन से युक्त है और वह पर के प्रयोजन की नहीं है।

(ग) द्रव्यत्व गुण—जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरंतर बदलती रहती है, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इस गुण की मुख्यता के कारण द्रव्य को वस्तु कहते हैं। द्रव्य में परिवर्तन का कारण अन्य द्रव्य नहीं है। द्रव्य स्वयं ही

परिणमनता है, उसे परिणमन करने में दूसरे द्रव्य की सहायता की अपेक्षा नहीं है।

(घ) प्रमेयत्व गुण—जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय हो, वह प्रमेयत्व गुण है। ज्ञान की कमी के कारण पकड़ में नहीं आवे तो दूसरी बात है। जिसका ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है, उसके ज्ञान में सब कुछ आ जाता है। ऐसा नहीं हो सकता है कि जग का कोई भी पदार्थ जानने में नहीं आवे।

(ड.) अगुरुलघुत्व गुण—जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का रूप नहीं ले सकता है, सब अपने-अपने रूप में स्वतंत्र हैं। द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते हैं।

(च) प्रदेशत्व गुण—एक परमाणु आकाश में जितने स्थान को घेरता है, उसे प्रदेश (Space point) कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है अर्थात् वह आकाश में कुछ न कुछ स्थान (प्रदेश) अवश्य घेरता है, यही उसका प्रदेशत्व गुण है।

उपरोक्त गुणों से यह स्पष्ट होता है कि सभी जीव द्रव्य हैं और द्रव्य गुणों का पिण्ड है। हम व आप भी गुणों के पिण्ड हैं। हममें भी अस्तित्व आदि गुण है। हमारा कोई नाश नहीं कर सकता है।

(2) विशेष गुण—जो गुण सभी द्रव्यों में नहीं होकर विशेष द्रव्य में पाया जावे, वह विशेष गुण कहलाता है। जैसे ज्ञान गुण केवल जीव द्रव्य में पाया जाता है और रूप, गंध आदि गुण केवल पुद्गल द्रव्य में पाये जाते हैं। इसी प्रकार जीव/पुद्गल के गमन में सहायक गुण धर्म द्रव्य में तथा ठहरने में सहायक गुण अधर्म-द्रव्य में पाया जाता है। अन्य द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देने का गुण आकाश द्रव्य में और उनके परिणमन (परिवर्तन) में सहकारी होने सम्बन्धी गुण काल द्रव्य में पाया जाता है।

सामान्य गुण सभी द्रव्यों में होते हैं और कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जिसमें ये गुण नहीं हों। विशेष गुण द्रव्य विशेष में पाये जाते हैं।

1.6 पर्याय (Modes)—

द्रव्य की परिणमनशील अवस्था को पर्याय कहते हैं। यद्यपि एक समय में द्रव्य की एक ही पर्याय रहती है किन्तु यह प्रति समय बदलती रहती है - एक के बाद दूसरी पर्याय और दूसरी के बाद तीसरी पर्याय । कोई भी द्रव्य परिणमन के बिना एक समय भी नहीं रह सकता है और इस परिणमन का नाम ही पर्याय है। पदार्थ में परिवर्तन प्रति क्षण होता है। कुछ पदार्थ अल्प समय में बदल जाते हैं और कुछ अधिक समय में बदलते हैं। कतिपय मामलों में यह दिखाई नहीं देता है। जैसे आम के पकने पर परिवर्तन हमें दिखाई देता है लेकिन पाषाण प्रतिमा में यह दिखाई नहीं देता है। वस्तुतः पाषाण-प्रतिमा में भी प्रति क्षण परिवर्तन हो रहा है मगर वह सैकड़ों वर्ष बाद ही दिखाई देता है क्योंकि प्रतिमा हमें सैकड़ों वर्ष पश्चात् जीर्ण होती दिखाई देती है। आशय यही है कि प्रत्येक पदार्थ प्रति क्षण बदलता अवश्य है।

पर्याय दो प्रकार की होती हैं (Two types of Modes)—

(1) अर्थ-पर्याय—प्रत्येक द्रव्य में जो प्रति क्षण सूक्ष्म परिवर्तन होता है, वह अर्थ-पर्याय है। यह मन व वचन के अगोचर है।

(2) व्यंजन पर्याय—जीव व पुद्गल की स्थूल पर्यायों को व्यंजन पर्याय कहते हैं। इसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जैसे जीव की मनुष्य, देव आदि पर्यायें और पुद्गल (लकड़ी) की चौकी, मेज, अलमारी, कुर्सी आदि पर्यायें।

गुण व पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता है और द्रव्य के बिना गुण व पर्याय नहीं होती हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों साथ-साथ होते हैं।

1.7 द्रव्य के भेद, उपभेद (Kinds and Sub-Kinds of Realities)—

द्रव्य मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—जीव तथा अजीव। अजीव द्रव्य में इतनी विविधता और व्यापकता है कि उसे समझने हेतु पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतः इसके 5 विभाग कर दिये गये हैं – पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। इस प्रकार द्रव्य छः भेदों में विभाजित है।

छः द्रव्य निम्न प्रकार हैं—

1. जीव (Soul)
2. पुद्गल (Matter)
3. धर्म (Medium of motion)
4. अधर्म (Medium of rest)
5. आकाश (Space)
6. काल (Time)

ये सभी द्रव्य तीनों लोकों में व्याप्त अर्थात् ठसाठस भरे हैं फिर भी एक दूसरे के रहने में बाधक नहीं हैं। सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी हैं, कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य के अधीन नहीं है। कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य का भला-बुरा नहीं कर सकता है और न उसका कर्ता, हर्ता या धर्ता है। द्रव्य स्वयं की पर्याय का स्वयं ही कर्ता है।

लोक द्रव्यों का समूह है। विश्व में जितने द्रव्य हैं, वे उतने ही रहेंगे, उनकी संख्या में कमी या वृद्धि नहीं होगी। द्रव्य कभी उत्पन्न नहीं होता है और न कभी नष्ट होता है। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, फिर भी उसकी पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं। यह द्रव्य प्रत्येक समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। अतः यह द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

लोक में जीव व पुद्गल दो द्रव्य ही क्रियाशील हैं। जीव द्रव्य तो स्वयं चेतन है और सुख-दुःख का वेदन वही करता है। पुद्गल द्रव्य जड़ है, उसकी अवस्था (पर्याय) कैसी भी हो, उससे पुद्गल को कोई सुख-दुःख नहीं होता है। ये दोनों द्रव्य ही विश्व की व्यवस्था के मूल द्रव्य हैं। सारा संसार इन दो द्रव्यों का ही खेल है क्योंकि ऐसा करना इनका स्वभाव है। अनादिकाल से यह कार्य चला आ रहा है और आगे भी चलता रहेगा।

शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) का कोई स्वतंत्र कार्य नहीं है। ये जीव व पुद्गल द्रव्यों के उपकारी अर्थात् निमित्त मात्र हैं अर्थात् ये उनके कार्यों में सहायता करते हैं। ये चारों द्रव्य जीव का किसी भी प्रकार से अहित नहीं करते हैं। मात्र पुद्गल द्रव्य ही जीव का अहितकारी है, क्योंकि जीव के राग-द्वेष परिणामों से पुद्गल द्रव्य ही कर्म-रूप परिणमित होकर आत्मा से बंधते हैं, शेष चारों द्रव्य कर्मरूप परिणमित नहीं होते हैं।

1.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) —

प्रश्न 1-द्रव्य किसे कहते हैं ? द्रव्य के कितने भेद हैं?

प्रश्न 2-द्रव्यों के नामों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3-गुण की परिभाषा बताइये, यह कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 4-पर्याय का क्या अर्थ है, पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

पाठ-2–जीव द्रव्य, इन्द्रियों की अपेक्षा भेद

(Soul or Living Reality, Types according to Senses)

2.1 जीव (*Jeev* or Soul)—

जिसमें चेतना गुण है, वह जीव है। जीव का असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना जानने व देखने रूप है अर्थात् जो देखता है और जानता है, वह जीव है। ज्ञान–दर्शन जीव का गुण या स्वभाव है। कोई जीव बिना ज्ञान के नहीं होता है। सबसे कम प्रकट ज्ञान निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग के बराबर होता है और सबसे अधिक प्रकट ज्ञान अरहंत व सिद्ध में होता है। जीव में चार या अधिक प्राण होते हैं।

जैन दर्शन में जीव देखने–जानने वाला, अमूर्तिक, कर्ता, भोक्ता और अपने उत्थान–पतन के लिये स्वयं उत्तरदायी है। जीवों की संख्या स्थिर रहती है, घटती–बढ़ती नहीं है। वह यद्यपि अमूर्तिक है, लेकिन संसार अवस्था में कर्म से संयुक्त है। यह ऊर्ध्व स्वभाव वाला है। चूँकि यह जीव जीवित था, जीवित है और जीवित रहेगा, इसलिये इसे ''जीव'' कहते हैं। सिद्ध भगवान भी अपनी पूर्व पर्याय में जीवित थे, वर्तमान में जीवित हैं और भविष्य में भी जीवित रहेंगे, अतः वे भी जीव हैं। इन्हें हम मुक्त जीव कहते हैं।

मानव शरीर तो मूर्तिक है और वह पुद्गल है। इस शरीर के अन्दर जो चेतन पदार्थ है, वह जीव है। यह अमूर्तिक है। इस प्रकार मानव शरीर जीव का शरीर मात्र है, जीव नहीं है। समझाने हेतु मानव शरीर को जीव व अजीव की मिलीजुली पर्याय कहा जाता है।

2.2 जीव का आकार (Shape of *Jeev*)—

जीव असंख्यात प्रदेशी होता है किन्तु कर्मों के निमित्त से वह सदा शरीर आकार प्रमाण रहता है। केवली–समुद्घात के समय इसका आकार तीन लोक प्रमाण हो जाता है और समुद्घात के अलावा अन्य कालों में नियम से शरीर प्रमाण रहता है, न कम न ज्यादा।

जीव अमूर्तिक और अखंडित पदार्थ है जिसे न तो तोड़ा जा सकता है और न जोड़ा जा सकता है। किन्तु सभी जीवों में संकोच–विस्तार की एक विशेष शक्ति होती है जिसके कारण वह सिकुड़ कर छोटा हो सकता है और फैलकर बड़ा हो सकता है। नाम–कर्म के उदय से जीव शरीर प्रमाण आकार को प्राप्त होता है। जीव को यदि छोटे शरीर में रहना पड़े तो वह संकुचित होकर छोटा हो जाता है और यदि बड़े शरीर में रहना पड़े तो फैलकर बड़ा हो जाता है। जैसे दीपक के प्रकाश को घड़े में करें तो उसका आकार घड़े जितना छोटा हो जाता है और कमरे में करें तो फैलकर कमरे जितना बड़ा हो जाता है। इस प्रकार जीव का आकार शरीर प्रमाण होता है। सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव का होता है जो घनांगुल के असंख्यातवाँ भाग है और सबसे बड़ा शरीर स्वयंभूरमण नामक अंतिम समुद्र में पाये जाने वाले मत्स्य (महा मत्स्य) का 1000 योजन लम्बा, 500 योजन चौड़ा और 250 योजन मोटा होता है। मुक्त जीव के शरीर का आकार मोक्ष जाने से पूर्व उसके शरीर के आकार से कुछ न्यून होता है।

2.3 जीव के भेद (Types of *Jeev*)—

जीव के मुख्य दो भेद हैं—मुक्त व संसारी जीव। संसारी जीव के दो भेद हैं – स्थावर व त्रस जीव। स्थावर के 5 और त्रस के 4 भेद हैं। इनके अलावा भी जीवों के कई प्रकार से भेद किये गये हैं।

जीवों के विभिन्न भेदों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

मुक्त जीव (Liberated Soul)—

जिन जीवों ने अपने आठों कर्मों का नाश कर दिया है और संसार भ्रमण से मुक्त हो गये हैं तथा जिनका जन्म–मरण अब पुनः नहीं होगा, वे मुक्त जीव हैं। जैसे सिद्ध। मुक्त जीवों के कोई भेद नहीं होते हैं, ये सभी समान गुण धर्म वाले होते हैं।

संसारी जीव (Mundane Soul)—

संसार से अभिप्राय संसरण (परिभ्रमण) करना है। इसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच-परिवर्तन कहते हैं। जो जीव कर्मों से सहित है और अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है अर्थात् संसार में पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त हो रहा है, वह संसारी जीव है। जैसे मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच। इनके विभिन्न भेद हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है—

2.4 इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के भेद (Kinds of *Jeevas* As per Senses)—

संसारी जीव इन्द्रियों की अपेक्षा 5 प्रकार के होते हैं - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। आगम में एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर जीव व शेष चार प्रकार के जीवों को त्रस जीव कहा गया है। इस प्रकार संसारी जीवों के दो भेद हो जाते हैं- स्थावर व त्रस।

1. स्थावर जीव (Immobile-beings)—

स्थावर नाम कर्म के उदय से जिन जीवों के केवल एक इन्द्रिय (स्पर्शन) होती है, वे स्थावर जीव कहलाते हैं। ये स्थिर रहते हैं; अतः इन्हें स्थावर जीव कहते हैं। ये जीव पृथ्वी, जल (अप), अग्नि (तेज), वायु और वनस्पति रूप हैं। इनमें चैतन्यता का अभाव सा प्रतीत होता है, लेकिन वस्तुतः ये जीव सहित हैं। पृथ्वी में वृद्धि होती है; जल, अग्नि और वायु में क्रिया होती है; अग्नि को ढक देने से बुझ जाती है और वनस्पति में वृद्धि, संकोच/विस्तार देखा जाता है। ये सब बातें 'जड़' में संभव नहीं हैं। अतः ये जीव हैं। इनके 4 प्राण होते हैं।

स्थावर जीवों के भेद—इनके 5 भेद निम्नानुसार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति।

(1) पृथिवीविकायिक जीव के भेद—

पुढवी य सक्करा वालुअ उवले सिलादि छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिं देहि ।।149।।

शब्दार्थ—पुढवी-पृथ्वी, य-के, सक्करा-शर्करा, वालुअ-बालुका, उवले -उप्पल, सिलादि-शिलादि, छत्तीसा-छत्तीस प्रकार के भेद। पुढवीमया-पृथ्वीकायिक हु-के, जीवा-जीव के, णिद्दिट्ठा-बताये है, जिणवरिं देहि-जिनवर ने कहे है।

अर्थ—जिनेन्द्र देव भगवान ने पृथ्वी, शर्करा, बालुका, उपल और शीलादि के छत्तीस भेद से पृथ्वीकायिक जीव के छत्तीस भेद बताये हैं। यहाँ पर पृथ्वी के आवंतर भेद की अपेक्षा पृथ्वीकायिक जीव के निम्नलिखित भेद है।

1. मिट्टी रूप पृथिवी, 2. गंगा आदि नदियों में होने वाली रुक्ष बालुका, 3. तीक्ष्ण और चौकार आदि आकार वाले शर्करा, 4. समुद्र में उत्पन्न होने वाले नमक-, 5. लोहा, 6. जस्ता, 7. सीसा, 8. सोना, 9. चांदी, 10.(वज्र)हीरा, 11. हीर-ताल, 12. इंगुल, 13. मैमसील, 14. हरे रंग का सस्यक, 15. अंजन मूंगा, 16. भोडल, 17. चिकनी चमकती रेती, 18. कर्केतनमणि, 19. राजवर्तकमणि, 20. पुलकवर्णमणि, 21. स्फटिकमणि, 22. पद्मरागमणि, 23. चंद्रकांतमणि, 24. वैडूर्यमणि, 25. जलकांतमणि, 26. सूर्यकांतमणि, 27. गेरूमणि, 28. रूधिराक्षमणि, 29. चंदनगंध मणि, 30. अनेक प्रकार के मनकन्तमणि, 31. पुखराज, 32. नीलमणि, 33. विदुर्यवर्णमणि, 34. बड़े पत्थर, 35. गोल पत्थर, 36. तांबा उक्त सभी पृथ्वी के भेद है इसीलिए पृथ्वीकायिक जीवों के भी यही छत्तीस भेद हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। जब तक कोई भी पत्थर, कोयला, खनिज और जैसे लोहा, दस्त, कोयला, सोना, चांदी इत्यादि खान में रहते हैं तब वे जीव होने के कारण वृद्धि को प्राप्त करते है अतः पृथ्वीकायिकजीव है, जब खान से उन्हें निकाल लिया जाता है तो उसकी वृद्धि होनी बंद हो जाती है क्योंकि उसमें पृथ्वीकायिक जीव पृथ्वी जीव निकल जाता है और जो शरीर पृथ्वीकाय कोयला, चांदी, सोना आदि अजीव जीवकाया शेष रह जाती है।

मृदु पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 12000 वर्ष, खर की 22000 वर्ष और जघन्य आयु अंतमूर्हत है।

(2) जलकायिक जीव के भेद—

ओसा हिमो य धूमरि हरदणु सुद्धोदवो घणोदो य।
एदे दु आउकाया जीवा जिण सासणुद्दिट्ठा।।150।।

शब्दार्थ—ओसा–ओस, हिमो–बर्फ, य धूमरि–कोहरा, हरदणु–तालाब, सुद्धोदवो–स्थूल बिंदु रूप जल और सूक्ष्म बूँद रूप जल, चंद्रकांतमणि, झरने से उत्पन्न जल, समुद्र, तालाब से उत्पन्न शुद्ध जल, घणोदो–मेघ से उत्पन्न जल य। एदे दु आउकाया–जलकायिक, जलजीवा–जलजीव, जिण–जिन, सासणुद्दिट्ठा–शासन में कहे है।

भावार्थ—जिनशासन में 1. ओस, 2. बर्फ, 3. कोहरा, 4. स्थूल बिंदु रूप जल, 5. सूक्ष्म बिंदु रूप जल, 6. चंद्रकांत मणि से उत्पन्न शुद्ध जल, 7. झरने से उत्पन्न जल, 8. घनवात से उत्पन्न शुद्ध जल, 9. समुद्र से उत्पन्न जल, 10. तालाब से उत्पन्न जल, 11. मेघो से उत्पन्न जल आदि, जलकायिक जीव कहे है। जलकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु 7000 वर्ष और जघन्य अंतर्मूहत है।

(3) अग्निकायिक जीव के भेद—

इंगाल-जाल-अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी तहा अगणी।
अण्णे वि एवमाई ते उक्काया समुद्दिट्ठा ।।151।।

शब्दार्थ—इंगाल–अंगार, जाल–ज्वाला, अच्ची–अर्चि अर्थात् अग्नि किरण, मुम्मुर–अर्थात भूसे अथवा काण्ड की अग्नि, सुद्धागणी–शुद्धाग्नि अर्थात बिजली की अग्नि/सूर्यकांत से उत्पन्न अग्नि और धूमादि सहित समस्त, अग्नि, तहा अगणी–अग्नि, अण्णे वि एवमाई–ये सभी, ते उक्काया–अग्निकायिक जीव, समुद्दिट्ठा–कहे है।

भावार्थ—1. अंगार, 2. ज्वाला, 3. अग्नि किरण, 4. भुस अथवा काण्ड से उत्पन्न अग्नि, 5. शुद्ध बिजली अथवा सूर्यकांत से उत्पन्न अग्नि और 6. धूमादि से उत्पन्न समस्त अग्नि, अग्निकायिक जीव कहे है। अग्निकायिक जीवों की सत्ता हम, अग्नि मे पतंगों के रूप में अनुभव कर सकते है, जैन दर्शानुसार पतंगे अग्निकायिक जीव ही है। अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु 3 दिन और जघन्य अंतमुर्हूत है।

(4) वायुकायिक जीव के भेद—

वाउभामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघणो य तणू।
एदे दु वाउकाया जीवा जिण इंद णिद्दिट्ठा।।152।।

शब्दार्थ—वाउ–सामान्य वायु, उभामो–उद्भ्रम–अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जाने वाला वायु का चक्रवात, उक्कलि–उत्कली अर्थात नीचे को जाने वाली वायु अथवा जल की तरंगों को स्पर्श करते हुए तरंगित होने वाली वायु मंडलि–अर्थात पृथिवी को स्पर्श करते हुए घूमती हुई वायु, गुंजा–गुंजायमान वायु, महाघणो–महावात अर्थात वृक्षादि के भंग से से उत्पन्न वायु, य–और, तणू तनुवात और घनवात, एदे टु वाउकाया–वायुकायिक जीवा–जीव, जिण इंद–जिनेन्द्र भगवान, णिद्दिट्ठा–ने कहे है।

भावार्थ—1. सामान्य वायु, 2. घूमता हुआ ऊपर को उठता हुआ चक्रवात, 3. नीचे को जाने वाली वायु और जल की तरंगो को स्पर्श करती हुई तरंगित वायु, 4. पृथ्वी को स्पर्श करती हुई घूमती हुई वायु, 5. महावात अर्थात वृक्षादि के भंग से उत्पन्न वायु, 6. घनवात और 7. तनुवात, जिनेन्द्र देव ने वायुकायिक जीव कहे है।

वायुकायिक जीवों की सत्ता का अनुभव चक्रवातों में अनुभव किया जा सकता है।

वायुकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 3000 वर्ष और जघन्य अंतर्मूहूत है।

(5) वनस्पतिकायिक जीव के भेद—

मूल्लग पोर बीया कंदा तह खंध बीय बीयरूहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य।।153।।

शब्दार्थ—मूल्लग–मूल बीज, अगर बीज, पोर–पर्व बीया–बीज, कंदा–कंद बीज, तह खंध–स्कंध, बीय–बीज, बीयरूहा–बीजरूह, सम्मुच्छिमा–सम्मूर्च्छन, य–ये, सब, भणिया–कही गई है, पत्तेयाणंतकाया–वनस्पतिया–सु प्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक के भेद से दोनों प्रकार की, य–ये।

अर्थ—मूल बीज, अग्र बीज, पर्व बीज, कंद बीज, स्कंध बीज, बीजरूह और सम्मूर्च्छन ये सब वनस्पतियां

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक के भेद से दोनों प्रकार की कही है।

वनस्पतिकायिक जीवों से तो हम सभी परिचित है जिनका अस्तित्व श्री जगदीशचन्द्र बोस जी प्रमाणित कर चुके है। वनस्पतिकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 10000 वर्ष और जघन्य अंतर्मूहूत है।

प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं–

(1) सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—प्रत्येक वनस्पति जब निगोद (साधारण शरीर) से सहित हों अर्थात् जिन प्रत्येक वनस्पति जीवों के आश्रित अन्य साधारण वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं उन्हें प्रतिष्ठित (या सप्रतिष्ठित) कहते हैं। एक जीव के आश्रित असंख्य जीव रह सकते हैं, पर उनकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है। यह उपचार से साधारण वनस्पति है।

अनन्तकायिक जीव - अनन्त जीवों की साधारण काय होने से सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति को अनन्तकायिक जीव भी कहते हैं।

(2) अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—प्रत्येक वनस्पति जब निगोद से रहित हों अर्थात् जिन प्रत्येक वनस्पति जीवों के आश्रित अन्य साधारण वनस्पतिकायिक जीव नहीं रहते हों उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा, टहनी, पत्ते, फल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग (टुकड़े) हो जायें, दोनो भंगों में तन्तु न लगा रहे और काटने पर भी जिनकी पुनः वृद्धि हो जावें, जिनमें नसें या लम्बी–लम्बी रेखाएँ व गाठें आदि दिखलाई नहीं पड़ती हैं, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं और जो इन चिन्हों से रहित हों, उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। भूमि में बोने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् तथा कच्ची अवस्था में सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

वृक्षों पर लगे हुए फल, फूल, पत्ते बिना पकी हुई अवस्था में सप्रतिष्ठित और पकने पर अप्रतिष्ठित हो जाते हैं।

2.5 त्रस जीव (Mobile-beings)—

त्रस नाम कर्म के उदय से जिन जीवों का जन्म दो से पांच इन्द्रिय जीवों में होता हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं। ये जीव गतिमान होते हैं अर्थात् चल–फिर सकते हैं। इनके दो या अधिक इन्द्रियां होती हैं। ये लोक में त्रस नाली में रहते हैं, अतः इनका नाम "त्रस" जीव पड़ा है। इनके 6 से 10 प्राण होते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा से त्रस जीव 4 प्रकार के होते हैं–

1. द्वीन्द्रिय जीव—जिस जीव के स्पर्शन और रसना, दो इन्द्रियां होती हैं। जैसे लट, जोंक, केंचुआ आदि रेंग कर चलने वाले कीडे।

2. त्रीन्द्रिय जीव—जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियां होती हैं। जैसे चींटी, खटमल, बिच्छू, कनखजुरा आदि पैरों से चलने वाले कीडे।

3. चतुरिन्द्रिय जीव—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियां होती हैं। जैसे भौंरा, मक्खी, ततैया, मच्छर आदि उड़ने वाले कीडे।

4. पंचेन्द्रिय जीव—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियां होती हैं। जैसे मनुष्य, पशु, तोता, सर्प, देव, नारकी आदि।

उपरोक्तानुसार आगे की इन्द्रिय वाले जीवों के पीछे की इन्द्रियां भी अवश्य होती हैं।

2.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–जीव किसे कहते हैं ? इसके मुख्य भेद कौन से हैं ?

प्रश्न 2–इन्द्रियों की अपेक्षा संसारी जीवों के कौन–कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 3–स्थावर जीवों के भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 4–त्रस जीव कितनी इन्द्रियों वाले होते हैं ?

पाठ-3 — गतियों की अपेक्षा व अन्य अपेक्षा से जीवों के भेद
[Kinds of Living-beings on the basis of *Gati* (Destinity) or Else]

3.1 जीवों के भेद (Kinds of Living-beings) —

गतियों की अपेक्षा जीवों के 4 भेद हैं — नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। यहां इनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

1. नारकी — नरक में रहने वाले जीव नारकी हैं। ये हुण्डक संस्थान वाले, नपुंसक और पंचेन्द्रिय होते हैं। इनके आर्त्त व रौद्र ध्यान होता है और अशुभ लेश्या ही होती है। अधोलोक में 7 नरक व 84 लाख बिल हैं जिनमें ये रहते हैं। ये सभी संज्ञी होते हैं।

2. तिर्यंच — मनुष्य, देव और नारकी को छोड़ कर शेष एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों को तिर्यंच कहते हैं। ये संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। बैक्टीरिया भी तिर्यंच गति के माने जाते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के भी निम्न तीन भेद हैं —

(क) जलचर — जो जल में चलते हैं। जैसे मछली, मेंढ़क, कछुआ।

(ख) थलचर — जो पृथ्वी पर चलते हैं। जैसे गाय, शेर, कुत्ता आदि।

(ग) नभचर — जो नभ में चलते (उड़ते) हैं। जैसे चिड़िया, चील, तोता, आदि।

3. मनुष्य — मनुष्यों को मनु (कुलकर) की संतान कहा जाता है क्योंकि मनु ही मनुष्यों को आजीविका के साधन सिखाकर उनका लालन-पालन करते हैं, अतः वे मनुष्यों के पिता समान हैं। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं - भोगभूमिज, कर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्च्छन जन्म वाले।

धार्मिक क्रिया कलापों के आधार पर मनुष्यों के दो भेद आर्य व म्लेच्छ हैं। इनका विवरण निम्न है —

(क) आर्य मनुष्य — जो मनुष्य धर्म-क्रियाओं से सहित हैं तथा गुणवानों द्वारा पूज्य हैं, वे आर्य कहलाते हैं। ये भी दो प्रकार के होते है-

(1) ऋद्धिप्राप्त आर्य — जिनके तप आदि से विभिन्न प्रकार की ऋद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं, वे ऋद्धि प्राप्त आर्य कहलाते हैं। ऋद्धियां 64 प्रकार की होती हैं।

(2) ऋद्धिरहित आर्य — जिनके कोई ऋद्धि नहीं हो वे ऋद्धि रहित आर्य कहलाते हैं।

(ख) म्लेच्छ मनुष्य — जो मनुष्य धर्म-क्रियाओं से रहित होते हैं, निंद्य आचरण करने वाले होते हैं तथा आर्य संस्कृति से हीन होते हैं, वे मूेच्छ मनुष्य कहलाते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं-

(1) अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ — लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में स्थित 96 अन्तर्द्वीपों (कुभोग भूमियों) में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज मूेच्छ कहलाते हैं। इन्हें कुमानुष भी कहते हैं।

(2) कर्म भूमिज म्लेच्छ — भरत व ऐरावत आदि कर्म भूमियों में प्रत्येक में 1 आर्य खण्ड और 5 म्लेच्छ खण्ड हैं। इन म्लेच्छ खण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य कर्म भूमिज म्लेच्छ कहलाते हैं। आर्य खण्ड में भी यवन, भील आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ होते हैं।

कर्म भूमियों में उत्पन्न होने वाले आर्य मनुष्यों को ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, म्लेच्छ मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। यदि म्लेच्छ मनुष्य आर्य खण्ड में आ जावे तो भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है, वह संयम धारण कर सकता है।

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु 3 पल्य और जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्त होती है। कर्म भूमिज मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु 1 पूर्व कोटि की होती है।

4. देव — देव शब्द का उपयोग अरहन्त व सिद्ध भगवन्तों के लिये भी किया जाता है। किन्तु यहां पर देव शब्द का अर्थ देव गति में जन्म लेने वाले पंचेन्द्रिय जीवों से है। ये देव चार प्रकार के होते हैं- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इन चारों प्रकार के देवों के भी क्रमशः 10, 8, 5 और 2 भेद हैं।

3.2 मन की अपेक्षा जीवों के भेद (Types of Living-beings as per *Mana* i.e. The Thought Centre)—

लोक-परलोक का विचार, हित-अहित का विवेक आदि कार्य ऐसे हैं जो मन के बिना नहीं हो सकते हैं। अतः मन की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है। मन की अपेक्षा से जीव दो प्रकार के होते हैं—

(1) संज्ञी या सैनी (मन सहित) जीव—जिन जीवों के मन होता है और जो हित-अहित की शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण कर सकते हैं वे संज्ञी या सैनी जीव कहलाते हैं। नारकी, देव और मनुष्य गतियों के सभी जीव और पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में से कुछ जीव संज्ञी होते हैं।

(2) असंज्ञी या असैनी (मन रहित) जीव—जिन जीवों के मन नहीं होता है और जो शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। एक से चार इन्द्रियों के सभी जीव असंज्ञी होते हैं और पंचेन्द्रियों में से कुछ जीव (जैसे पानी का सर्प, कोई-कोई तोता आदि) असंज्ञी होते हैं।

उपरोक्तानुसार पंचेन्द्रिय जीवों में कुछ संज्ञी होते हैं और कुछ असंज्ञी होते हैं। अतः संज्ञी-असंज्ञी का भेद केवल पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में होता है, अन्य में नहीं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों में उनकी पर्याय की योग्यतानुसार होते हैं। जबकि संज्ञी जीवों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की विशेष योग्यता संभव है। चींटी आदि विकलेन्द्रिय जीवों में भी विचारने की शक्ति अवश्य होती है। चींटी यद्यपि देख नहीं सकती, किन्तु अग्नि की गर्मी महसूस करके वह यह विचारती होगी कि उधर जावेगी तो जल जावेगी, अतः वह उधर नहीं जाती है। इस प्रकार वह अपना हित-अहित विचार सकती है। यह विचारणा शक्ति सामान्य कही जाती है जो सामान्य रूप से जीवों में पाई जाती है। अन्य प्रकार की विशेष शक्ति शिक्षा ग्रहण करने संबंधी है जो तोता, मैना, कबूतर, कुत्ता, पशु आदि में पाई जाती है। ये प्राणी पढ़ाये जाने पर अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसी बातें सीख लेते हैं जो उनकी जाति के ही अन्य प्राणी नहीं जानते हैं। अतः यह शिक्षा ग्रहण करने की विशेष शक्ति जिन जीवों में पाई जाती है, वे संज्ञी होते हैं और जिनमें नहीं पाई जाती है, वे असंज्ञी होते हैं।

केवली संज्ञी या असंज्ञी नहीं—

संज्ञी जीव प्रथम से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। केवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं, वे न तो संज्ञी हैं और न असंज्ञी हैं।

3.3 काय की अपेक्षा से जीवों के भेद—

काय का अर्थ शरीर होता है। काय की अपेक्षा से जीवों के छः भेद हैं—5 स्थावर व 1 त्रस।

5 स्थावर जीव इस प्रकार हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक। इन पांचों के शरीर अलग-अलग जाति के होते हैं। पृथ्वी एक ठोस पदार्थ है जो खाने के अतिरिक्त अन्य काम आती है। जल तरल पदार्थ है जिससे प्यास बुझती है। अग्नि में भस्म करने की शक्ति है। वायु से श्वास लिया जाता है और वनस्पति खाने के काम आती है। इस प्रकार इन पांचों की बनावट, स्वरूप व उपयोग अलग-अलग हैं। इस प्रकार इनकी 5 काय अलग-अलग जाति की हैं।

त्रस जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस जीव कहलाते हैं। इनकी काय समान (रक्त, मांस, हड्डी आदि से) बनी होने के कारण ये चारों त्रस काय के अन्तर्गत आते हैं।

सिद्ध भगवान काय-रहित होते हैं।

3.4 जीवों के अन्य प्रकार से भेद (Types of Living-beings on other Bases)—

सूक्ष्म व बादर जीव—

(1) सूक्ष्म जीव—सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अति सूक्ष्म होता है, यंत्रों से भी दिखाई नहीं

देता है, दूसरे सूक्ष्म जीवों से रुकता नहीं है, दूसरों को रोकता भी नहीं है, दूसरे को मारता नहीं है, दूसरे से मरता भी नहीं है और बिना आधार के रहता है, वे सूक्ष्म जीव हैं। सूक्ष्म जीव अपनी आयु पूर्ण होने पर स्वयं ही मरता है अर्थात् वह किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता है, अतः उसकी हिंसा नहीं होती है। सूक्ष्म जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं। सूक्ष्म जीव छः प्रकार के होते हैं – पृथ्वीकायिक सूक्ष्म, जलकायिक सूक्ष्म, अग्निकायिक सूक्ष्म, वायुकायिक सूक्ष्म, नित्यनिगोद सूक्ष्म और इतरनिगोद सूक्ष्म।

ये जीव सम्पूर्ण लोक (वातवलयों सहित) में ठसाठस भरे हुए हैं, जैसे घड़े में घी भरा रहता है। लोकाकाश का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव नहीं हों। सिद्ध लोक में भी ये होते हैं।

(2) बादर (स्थूल) जीव—बादर नाम कर्म के उदय से जिनका शरीर दूसरे को रोकता है, दूसरे के द्वारा रोके जाने पर स्वयं रुकता है, आधार के बिना नहीं रहता है और दिखाई भी देता है, वह बादर जीव हैं। ये स्थूल जीव भी कहलाते हैं। बादर जीव भी छः प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक बादर, जलकायिक बादर, अग्निकायिक बादर, वायुकायिक बादर, नित्यनिगोद बादर और इतरनिगोद बादर।

त्रस जीव सभी बादर होते हैं। स्थावर जीवों में प्रत्येक वनस्पति (सप्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित) भी केवल बादर ही होते हैं। प्रत्येक वनस्पति के अतिरिक्त शेष स्थावर (पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, वायुकायिक तथा साधारण वनस्पतिकायिक) जीव सूक्ष्म व बादर दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म व बादर का भेद केवल एकेन्द्रिय जीवों में ही होता है।

अवगाहना की अपेक्षा से सूक्ष्म व बादर का भेद नहीं है क्योंकि सूक्ष्म जीवों की अवगाहना बादर जीवों की अवगाहना से भी कदाचित् अधिक देखी जाती है। सूक्ष्म जीवों का औदारिक शरीर (स्थूल) होते हुए भी इनमें सूक्ष्मता, सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से होती है।

आहारक व वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म होते हुए भी बादर ही हैं क्योंकि आहारक शरीर ढाई द्वीप से बाहर नहीं जा सकता है और वैक्रियिक शरीर त्रस नाली से बाहर नहीं जा सकता है।

बादर जीव एक स्थान पर बहुत से नहीं रह सकते हैं। लेकिन जितने स्थान में एक निगोदिया जीव रहता है उतने स्थान में सूक्ष्म जीव साधारण काय के रूप में अनन्तानन्त रह सकते हैं क्योंकि ये सूक्ष्म जीव न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं।

3.5 भव्य-अभव्य जीव (Liberatable and Unliberatable Souls)—

(क) भव्य जीव—जिसमें सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की योग्यता होती है, वह भव्य जीव है। इस प्रकार के जीव मोक्ष जाने योग्य होते हैं। काल की अपेक्षा से ये तीन प्रकार के होते हैं—

आसन्न भव्य—जो थोडे भव धारण कर मोक्ष जावेगा, वह आसन्न भव्य है। इसे निकट भव्य भी कहते हैं।

दूर भव्य—जो बहुत काल में मुक्त होंगे, वे दूर भव्य हैं।

अभव्यसम भव्य—जो जीव मुक्त होने की योग्यता तो रखता है, किन्तु वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा, उसे दूरान्दूर भव्य या अभव्य सम भव्य कहते हैं। जैसे एक स्त्री पुत्रवती होने की योग्यता तो रखती है, मगर विधवा हो जाने के कारण अब सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती है।

(ख) अभव्य जीव—जिन जीवों में सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं हो। ये कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जैसे बांझ स्त्री कभी भी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती है। इसी प्रकार ठर्रा कोरडू) मूंग को कितना भी उबालो वह पकता (सीझता) ही नहीं है।

सकलेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय जीव—

(क) सकलेन्द्रिय जीव—जिनके सकल अर्थात् सम्पूर्ण पांच इन्द्रियाँ होती हैं; वे सकलेन्द्रिय जीव हैं। इस प्रकार

पंचेन्द्रिय जीव ही सकलेन्द्रिय जीव हैं।

(ख) विकलेन्द्रिय (विकलत्रय) जीव—जिन त्रस जीवों के विकल अर्थात् कम इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें विकलेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन जीवों के 2 अथवा 3 अथवा 4 इन्द्रियाँ होती हैं। इन्हें विकलत्रय जीव भी कहते हैं।

3.6 निगोदिया जीव (नित्य निगोद-इतर निगोद जीव) (General-bodied Beings, Permanent & Mutable)—

जो एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हैं उनको निगोदिया जीव कहते हैं। आशय यह है कि एक ही साधारण शरीर में जहां अनन्तों जीव निवास करते हैं, वह निगोद है। निगोदिया जीव का शरीर अंगुल का असंख्यातवां भाग है और यह जीव की सूक्ष्मतम पर्याय है। ऐसे सूक्ष्म शरीर में भी अनन्त जीव रहते हैं। इन जीवों में एक ही शरीर के अनन्त जीव स्वामी होते हैं। निगोदिया जीवों में एक के जन्म के साथ अनन्त का जन्म, एक के मरण के साथ अनन्त का मरण, एक के आहार ग्रहण करने पर अनन्त का आहार ग्रहण तथा एक के श्वास ग्रहण पर अनन्त जीवों का श्वास ग्रहण होता है। लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवों की आयु एक श्वास के अठारहवें भाग बताई गई है और वे एक अन्तर्मुहुर्त (3773 श्वास) में 66336 बार जन्म-मरण करते हैं। पर्याप्तक निगोदिया जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।

अधोलोक में सात नरकों के नीचे 1 राजू प्रमाण (ऊंचा) जो क्षेत्र है वह कलकल (कलकला) पृथ्वी कहलाता है और इसमें पंच स्थावर एवं निगोदिया जीवों का निवास है। वैसे समस्त लोक में सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं, लेकिन वे दिखाई नहीं देते हैं।

आठ स्थानों पर बादर निगोदिया जीव नहीं होते हैं—

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारक शरीरी और केवली प्रत्येक शरीर वाले होते हैं और इनके शरीर में बादर निगोदिया जीव नहीं होते हैं। इन आठ स्थानों को छोड़कर अन्य बादर जीवों के आश्रित बादर जीव पाये जाते है।

निगोदिया जीव 2 प्रकार के होते हैं—

(क) नित्य निगोद जीव—जो जीव निगोदों में ही रहते हैं अर्थात् जो आज तक निगोद से नहीं निकले हैं और आगे भी नहीं निकलेंगे, उन्हें नित्य निगोदिया जीव कहते हैं।

(ख) अनित्य निगोद जीव—जिन्होंने त्रस पर्याय पूर्व में प्राप्त की थी या अब आगे प्राप्त करेंगे, वे अनित्य निगोद जीव हैं।

इतर निगोद जीव—जिस जीव ने निगोद से निकलकर अन्य जीवों में जन्म लिया और पुनः निगोद में उत्पन्न हो गया हो, वह इतर निगोद जीव है।

चतुर्गति निगोद—जो निगोदिया जीव देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य गतियों में उत्पन्न होकर पुनः निगोद में उत्पन्न होता है, उसे चतुर्गति निगोद जीव कहते हैं।

3.7 लोक में जीवों की संख्या (Number of Living-beings in the Universe)—

लोक में जीवों की संख्या अनंतानंत है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक व वायुकायिक जीवों की संख्या असंख्यातासंख्यात है। वनस्पतिकायिक जीव अनंतानन्त हैं। 2, 3, 4 व 5 इन्द्रिय वाले जीव असंख्यातासंख्यात हैं।

सब से कम संख्या मनुष्यों की है। पर्याप्तक (गर्भज) मनुष्यों की संख्या 29 अंक प्रमाण (79228162514264337593543950336) है और अपर्याप्तक (सम्मूर्च्छन) मनुष्यों की संख्या असंख्यात है। मनुष्यों से असंख्यात गुणे अधिक नारकी, नारकियों से असंख्यात गुणे अधिक देव और देवों से अनन्त गुणे अधिक तिर्यंच हैं। तिर्यंचो से अनन्त गुणे अधिक सिद्ध हैं और सिद्धों से अनन्त गुणे अधिक निगोदिया जीव हैं। इस प्रकार जीवों में सबसे

कम संख्या मनुष्यों की है और सब से अधिक संख्या निगोदिया जीवों की है।

एक निगोद शरीर में जीवों की संख्या अनन्तानंत होती है। तीनों कालों में होने वाले सिद्धों की संख्या से भी अधिक जीव एक निगोद शरीर में होते हैं अर्थात् सिद्धों की कुल संख्या भी एक निगोद शरीर के जीवों का अनन्तवाँ भाग है। जब एक निगोद शरीर में इतनी जीव-राशि होती है तो समस्त निगोदिया शरीरों में तो इनकी संख्या की कल्पना करना भी कठिन है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य पर्याय प्राप्त होना कितना दुर्लभ है। मनुष्य पर्याय प्राप्त करने हेतु देवता भी तरसते हैं। क्योंकि संयम धारण करना मनुष्य पर्याय में ही संभव है। हम सौभाग्यशाली हैं कि हमें मनुष्य पर्याय मिली है। आवश्यकता इसी बात की है कि हम इस पर्याय का सदुपयोग करके मोक्ष मार्ग पर बढ़ने का प्रयास करें।

3.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-गतियों की अपेक्षा जीवों के कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 2-संज्ञी और असंज्ञी में अन्तर बताइये ?

प्रश्न 3-भव्य और अभव्य जीवों में अन्तर बताते हुए भव्य जीवों के भेदों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 4-निगोदिया जीव किसे कहते हैं ? इनके भेदों का उल्लेख कीजिए।

पाठ-4—विभिन्न दर्शनों के अनुसार जीव का स्वरूप (Nature of Soul as Per Different Philosophies)

4.1 इस दृश्य जगत् में जब से मानव ने आँखे खोलीं, तभी से 'आत्मतत्त्व' को जानने की इच्छा की प्रक्रिया शुरू हुई। इसी आत्मतत्त्व को जैनदर्शन 'जीव' के रूप में, सांख्य दर्शन पुरुष के रूप में और अन्य दर्शन आत्मा के रूप में अभिहित करते हैं। जीवविचार अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन के केन्द्र में है। जैनदर्शन में जीव और अजीव तत्त्व मूल में माने गये हैं।

जीव : व्युत्पत्तिपरक अर्थ—'जीवप्राणधारणे' धातु से भाव 'जीवनम् इति जीवः' अर्थात् जीवन या प्राण धारण करने को जीव कहते हैं। जैन वाङ्मय में जीव के अनेक पर्याय नामों का निर्देश मिलता है। धवलाकार ने भी जीव के पर्याय शब्दों का उल्लेख किया है। महापुराण में भी जीव, प्राणी, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, अन्तरात्मा, ज्ञानी आदि अनेक जीवार्थक शब्द प्रयोग में आये हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में जीव (आत्मा)—सभी भारतीय दर्शन चूँकि अध्यात्मवादी हैं, इसलिए सबके केन्द्र में 'जीव' या आत्मा का चिंतन रहा है। सभी ने किसी न किसी रूप में आत्मा पर अवश्य प्रकाश डाला है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष है अतः सबके केन्द्र में आत्मा ही है क्योंकि मोक्ष का सीधा संबंध आत्मा से ही है। प्रश्न उठता है कि मुक्ति किसकी ? उत्तर के रूप में 'जीव' अर्थात् आत्मा का अस्तित्व स्वतः सामने आता है। सभी भारतीय दर्शन आत्मा में आस्था रखते हैं, अपने चिंतन के केन्द्र में आत्मा को रखते हैं इसलिए वे अध्यात्मवादी भी कहलाते हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य सभी दर्शनों की संक्षिप्त आत्ममीमांसा को प्रस्तुत करना है।

4.2 चार्वाक दर्शन में आत्मा (Nature of Soul as per Charvak Philosophy)—

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन है। यहाँ चार भौतिक या जड़तत्त्व ही मूल तत्त्व हैं—"पृथिव्यप्तेजवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा।" अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज और वायु ये चार ही मूल तत्त्व हैं। इन्हीं से शरीर, इन्द्रिय एवं संसार के सभी तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। 'तेभ्यः चैतन्योऽपि' अर्थात् इन्हीं से चेतना की भी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार चार्वाक चार जड़ तत्त्वों को ही चेतना का भी कारण मानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन तत्त्व नित्य, शाश्वत नहीं है। यह उत्पन्न और नष्ट होता है। प्रश्न यह उठता है कि जड़ तत्त्व से चेतना की उत्पत्ति कैसे हो सकती है तो चार्वाक दर्शन में कहा गया है—

"जड़भूतविकारेसु चैतन्यं यत्तु दृश्यते रजः।
ताम्बूलपूगचूर्णानां रागादिवोत्थितम्।।"

अर्थात् जैसे पान, सुपारी और चूना में से लालिमा किसी में नहीं है किन्तु जब ये आपस में मिल जाते हैं तो लालिमा की उत्पत्ति स्वतः हो जाती है। उसी प्रकार चारों जड़ तत्त्वों में चेतना नहीं है किन्तु इनके मिलने से चेतना की उत्पत्ति होती है। चार्वाक चूँकि नित्य आत्मा को नहीं मानता अतः मुक्ति से आत्मा की मुक्ति को भी नहीं मानता। उसके अनुसार 'मरणमेवापवर्गः' अर्थात् मृत्यु ही मोक्ष है। वह पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं करता है। 'पुनरागमनं कुतः' कहकर पुनर्जन्म का भी खण्डन करता है। अतः यहाँ जीव या आत्मा का चिंतन भी बिल्कुल अलग तरीके का हुआ है।

4.3 सांख्य दर्शन में आत्मा (Nature of Soul as per Sankhya Philosophy)—

सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य, शाश्वत है।

अमूर्त्त है, चेतन है, साक्षी है, कैवल्यस्वरूप है, तटस्थ है, द्रष्टा है, भोक्ता है और अकर्त्ता है। सांख्य दर्शन में आत्मा को अकर्त्ता के साथ भोक्ता कहा गया है। प्रश्न यह उठता है कि जो अकर्त्ता है, वह भोक्ता कैसे है ? सांख्य दार्शनिक 'बालहुताशनतरवः' का दृष्टान्त देकर अकर्त्ता के साथ आत्मा का भोक्ता होना सिद्ध करते हैं। जैसे बालक कुछ नहीं करता है किन्तु माँ उसे दूध, जल आदि का पान कराती है। अग्नि और वृक्ष जिसका उपभोग करते हैं वे उनका निर्माण

नहीं करते हैं अतः ये जैसे भोक्ता हैं किन्तु कर्त्ता नहीं उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) भी भोक्ता है किन्तु कर्त्ता नहीं है। सांख्यदर्शन में आत्मा एक नहीं अनेक है। सांख्य दर्शन में आत्मा की अनेकता के संदर्भ में कहा गया है कि जन्म, मृत्यु और इन्द्रियों की व्यवस्था से आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। आत्मा यदि एक होती तो एक के जन्म लेने से सारे जन्म लेते, एक की मृत्यु से सारे मरते और एक के अंधे, लूले, लंगड़े होने से सारे अंधे, लूले और लंगड़े होते किन्तु ऐसा नहीं होता अतः आत्मा एक नहीं अनेक है। यदि आत्मा एक है तो उसमें तीनों गुणों का जैसा स्वरूप है वैसा सबमें होता किन्तु ऐसा नहीं है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई मोह में है। सबके अलग-अलग गुण होने से आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है अतः सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा एक नहीं, अनेक है। यहाँ मुक्तात्मा (सत्, रज एवं तम से रहित की अवस्था) है।

4.4 बौद्ध दर्शन में आत्मा (Nature of Soul as per Bauddh Philosophy)—

बौद्ध दर्शन के संस्थापक गौतम बुद्ध थे। प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है, उनके दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कुछ भी शाश्वत नहीं है। सब कुछ उत्पन्न और नष्ट होता है अर्थात् सब कुछ अनित्य एवं क्षणिक है। आत्मा भी अनित्य है। बौद्ध दर्शन का 'अनात्मवाद' प्रसिद्ध है। अनात्मवाद से तात्पर्य 'न आत्मा अनात्मा' अर्थात् आत्मा नहीं है, ऐसा नहीं है अपितु अनात्मवाद से तात्पर्य है 'न नित्यात्मा अनात्मा' अर्थात् नित्य आत्मा नहीं है। आत्मा पाँच स्कंधों का समूह है। पंच स्कंध हैं—वेदना, संज्ञा, रूप, संस्कार और विज्ञान। जब ये पाँचों मिलते हैं तो आत्मा कहलाते हैं और जब ये अलग हो जाते हैं तो आत्मा नष्ट हो जाती है। 'मिलिन्दपहनो' ग्रंथ में बौद्ध भिक्षु नागसेन और राजा मिनाण्डर के वार्तालाप से इस प्रकार की आत्मा का चित्रण हुआ है। गौतम बुद्ध मध्यम प्रतिपदावादी थे। वे शाश्वत आत्मा को नहीं मानते थे और न ही आत्मा का निषेध करते थे अतः आत्मा के संदर्भ में प्रश्न पूछे जाने पर वे मौन रहते थे। बौद्ध दर्शन में आत्मा की स्वीकृति के संदर्भ में कहा गया है—जैसे बिल्ली अपने बच्चे को अपने मुँह में न अति कठोरता से दबाती है कि बच्चा चोटिल हो जाये और न अति शिथिलता से दबाती है कि बच्चा गिरकर चोटिल हो जाये अपितु मध्यम रूप में दबाती है, वैसे ही यहाँ आत्मा से मुक्ति माना गया है अर्थात् निर्वाण पूर्णतया शांत अवस्था है। यहाँ आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रहता। कहा गया है—"दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं नान्तरिक्षम्"। दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेव शांतिम्।" अर्थात् जैसे बुझा हुआ दीपक न पृथ्वी पर, न अंतरिक्ष में, न दिशा-विदिशा में कहीं नहीं रह जाता वैसे राग-द्वेष मुक्त आत्मा का भी कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता है।

4.5 न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा (Nature of Soul as per Nyaya-Vaisheshik Philosophy)—

यहाँ भी आत्मा को नित्य एवं विभु माना गया है। इनके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में विद्यमान रहते हैं। ये जड़ द्रव्यों के गुणों की तरह नहीं हैं क्योंकि ये बाह्य इन्द्रियों से बोधगम्य नहीं हो सकते। ज्ञान या चैतन्य का संचार तब होता है जब उसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ संपर्क होता है। ऐसा न होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय नहीं हो सकता। आत्मा जब शरीर मुक्त होता है तब उसमें ज्ञान का अभाव रहता है अतः यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन से चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण न होकर आगंतुक लक्षण है। चूँकि चेतना आगंतुक धर्म है अतः मुक्तात्मा में यह चेतना नहीं रह सकती और कोई नया स्वरूप भी नहीं प्राप्त होता है, इसलिए व्यंग्य में यह कहा जाता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा को मुक्त करने की अपेक्षा श्रृगाल (सियार) बनकर वृन्दावन की हरी-हरी घास चरना अधिक अच्छा है।

4.6 वेदान्त दर्शन में आत्मा (Nature of Soul as per Vedant Philosophy)—

वेदान्त दर्शन में आत्मा त्रैकालिक सत् है। चेतना आत्मा का स्वरूप लक्षण है न कि आगंतुक लक्षण। यहाँ ब्रह्म और आत्मा को एक माना गया है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् आत्मा ब्रह्म है आदि औपनिषदिक वाक्यों से आत्मा और ब्रह्म की

एकरूपता यहाँ सिद्ध है। ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' वाक्य भी जीव और ब्रह्म की एकरूपता को प्रतिपादित करते हैं। वह आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है अर्थात् सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है।

यहाँ आत्मा को अनेक न मानकर एक माना गया है। एक ही आत्मा सब जगह व्याप्त है। कहा भी गया है—'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थित:' अर्थात् आत्मा एक है और सभी में स्थित है। अद्वैत वेदान्त में यह भी कहा गया है कि यह एक आत्मा अविद्या आदि के द्वारा अनेक प्रतीत होता है अन्यथा यह 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् एक ही और अद्वितीय है। जिस प्रकार एक चन्द्र का प्रतिबिम्ब विभिन्न जलपात्रों में पड़ने पर वह अनेक रूप में दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है। वेदान्त के अनुसार अनेकात्मवाद की कल्पना अज्ञान के कारण है।

4.7 जैन दर्शन में जीव की विशेषताएँ (Characteristics of *Jeev* in Jain Philosophy)—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिणामो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।। (द्र. सं. 2)

जो जीता है सो जीव कहा, उपयोगमयी वह होता है।
मूर्ती विरहित कर्ता स्वदेह परिमाण कहा और भोक्ता है।।
संसारी है औ सिद्ध कहा, स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशाली।
इन नौ अधिकारों से वर्णित, है जीव द्रव्य गुणमणिमाली।।2।।

अर्थ—प्रत्येक प्राणी जीव है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण रहने वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। ये जीव के नव विशेष लक्षण हैं।

1. जीव—अपने प्राणों से जो जीता है सो जीव है। 'जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा इति जीव:'।

2. उपयोगमय—'चैतन्यानुविधायी आत्मन: परिणाम: उपयोग:' चैतन्य से अनुप्राणित जीव का परिणाम उपयोग है।

3. अमूर्तिक—निश्चयनय की अपेक्षा जीव कर्ममल से रहित होने के कारण (अमूर्त, अतीन्द्रिय, शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला होने से) अमूर्तिक है।

4. कर्त्ता—मन, वचन, काय के व्यापार के कारण कर्मसहित होने से शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता है।

5. स्वदेह परिमाण—शरीर नामकर्म के उदय से संकोच विस्तार वाला होने से स्वदेह प्रमाण है।

6. भोक्ता—शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न सुख-दु:ख का भोगने वाला होने से भोक्ता है।

7. संसारस्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकार के संसार में भ्रमण करने से संसारस्थ है।

8. सिद्ध—अनन्त ज्ञान और अनन्त गुण स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है।

ऊर्ध्वगति स्वभावी—केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्ति होने के कारण मोक्षगमन के समय जीव स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करने वाला होने से ऊर्ध्वगति स्वभावी है।

4.8 किस मत के निराकरण के लिए कौन सा कथन किया गया—

जीव (चार्वाक के प्रति) यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से आदि, मध्य और अन्तरहित स्वपरप्रकाशी शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण से जीता है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्मबंध के कारण द्रव्य प्राण और भाव प्राण से जीता है।

उपयोगमयी (नैयायिक)—यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञानदर्शन रूप उपयोग स्वरूप है तथापि अशुद्धनय से क्षायोपशमिक ज्ञानदर्शनरूप है इसलिए जीव को ज्ञानदर्शन स्वभावी (उपयोगवान) कहा है।

अमूर्तिक—यद्यपि जीव व्यवहार नय से मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाली मूर्ति से युक्त होने के कारण मूर्तिक है तथापि निश्चयनय से इन्द्रियों के अगोचर शुद्ध स्वभाव का धारक होने से अमूर्तिक है।

कर्त्ता (सांख्य)—यद्यपि वह जीव निश्चय से क्रियारहित, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है तथापि व्यवहार नय से मन, वचन, काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होने के कारण शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है।

स्वदेहपरिमाण (नैयायिक, मीमांसक, सांख्य)—यद्यपि जीव निश्चय से स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध अलोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है तथापि शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच/विस्तार के अधीन होने से घट आदि भाजनों में स्थित दीपक की तरह निज देह (स्वदेह) के प्रमाण है।

भोक्ता (बौद्ध)—यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्परूप उपाधियों से शून्य है और निजात्मा से उत्पन्न सुखरूप अमृत का भोगने वाला है तथापि अशुद्ध नय से इस अमृत-भोजन के अभाव से शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न सुख-दुख का भोगने वाला है।

संसारस्थ (सदाशिव)—यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसार रहित है तथा नित्य आनन्दरूप एक स्वभाव का धारक है तथापि अशुद्धनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार के संसार में रहता है।

सिद्ध (भट्ट, चार्वाक)—यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज आत्मा की प्राप्ति रूप जो सिद्धत्व है, उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है, तथापि निश्चयनय से अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है।

स्वभाव से ऊर्ध्वगामी (माण्डलिक ग्रंथकार के प्रति)—यद्यपि व्यवहार से चतुर्गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय के वश से ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है तथापि निश्चय से केवलज्ञानादि अनंत गुणों की प्राप्तिस्वरूप मोक्ष जाने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

चार्वाक मत—चार्वाक मत पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के संयोग से जीव में शक्ति (जानने/देखने की क्षमता) मानता है। स्वतंत्र जीव का अस्तित्व नहीं मानता।

नैयायिक मत—नैयायिक ज्ञान, दर्शन गुण को गुणी आत्मा से सर्वथा भिन्न मानते हैं। इसी बात का निराकरण करने के लिए ही कहा गया है कि ज्ञान दर्शन गुण आत्मा से भिन्न नहीं हैं। ज्ञानदर्शन स्वभावी उपयोगमयी आत्मा है। भिन्न ज्ञान दर्शन का संयोग कराने वाले समवाय संबंध से आत्मा ज्ञाता दृष्टा नहीं बना है।

भट्ट, चार्वाक—भट्ट और चार्वाक दर्शन, आत्मा को भूतचतुष्टय (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के संयोग से उत्पन्न हुआ मूर्तिक मानते हैं।

नैयायिक, सांख्य—सांख्य, प्रधान को कर्मों का कर्त्ता और आत्मा को अकर्त्ता मानता है।

नैयायिक, मीमांसक और सांख्य—यह तीनों आत्मा को वट बीज बराबर छोटा तथा सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ मानते हैं।

बौद्धमत—बौद्धदर्शन आत्मा को कर्त्ता तो मानता है परन्तु भोक्ता नहीं मानता क्योंकि उसके सिद्धान्त में आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट हो जाता है इसलिए कर्त्ता और भोक्ता कोई और दूसरा रहता है, यह बौद्ध दर्शन की मान्यता है।

सदाशिवमत—सदाशिव सिद्धान्तवादी आत्मा को हमेशा कर्मों से रहित ही मानता है। इस बात के निराकरण के लिए ही कर्मसहित आत्मा को संसारी कहा है।

अन्यमत (माण्डलिक)—जिस स्थान से जीव मुक्त होता है, उसी स्थान पर वह रह जाता है, ऐसी मान्यता वालों के सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए ही जीव को ऊर्ध्वगमन स्वभावी कहा है।

उक्त चं— **सदाशिवः सदाऽकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं।**
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्।।1।।
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो योगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डलो चोर्ध्वगामिनम्।।2।। (बृ. द्र.सं.गा. 2 टीका से)

4.9 जैनदर्शन के अनुसार सिद्धों के सात विशेषण (Seven Specialities of Liberated Souls in Jain Philosophy)—

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। (जी.का.गाथा 68)

1. ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित।
2. अनन्तसुखरूपी अमृत का अनुभव करने वाले शांतिमय।
3. नवीनकर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित।
4. नित्य।
5. अष्टकर्म के अभाव में प्रकट हुए आठ गुणों से सहित।
6. जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया ऐसे कृतकृत्य।
7. लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले।

उपर्युक्त सात विशेषणों का प्रयोजन—

सदाशिव संखो मक्कडि, बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।
ईसरमंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं।। (जी. का. गा. 69)

अर्थ—सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, कर्तृत्त्ववादी, (ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले) माण्डलिक इनके मतों का निराकरण करने के लिए ये विशेषण दिये हैं।

1. सदाशिव मत वाला जीव को सदा कर्म से रहित ही मानता है, उसके निराकरण के लिए ही कहा गया है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर ही जीव कर्म से रहित होता है, सदा नहीं। सिद्धावस्था के पूर्व संसारावस्था में कर्म सहित रहता है। इससे उस याज्ञिक मत का भी निराकरण हो जाता है, जिसके अनुसार जीव को मुक्ति कभी होती ही नहीं। सदा कर्म सहित संसारावस्था ही रहती है।

2. सांख्य मत वाले मानते हैं कि बंध, मोक्ष, सुख, दुःख प्रकृति को होते हैं, आत्मा को नहीं, इसके निराकरण के लिए ''सुखस्वरूप'' ऐसा विशेषण दिया है।

3. मस्करी मत वाला मुक्त जीव का लौटना मानता है। इस बात का निराकरण करने के लिए कहा है कि सिद्ध निरंजन हैं अर्थात् क्रोध, मान आदि भाव कर्मों से रहित हैं क्योंकि बिना भावकर्म के नवीन कर्म ग्रहण नहीं हो सकता और बिना कर्म ग्रहण के जीव निर्हेतुक संसार में लौट नहीं सकता।

4. बौद्धों का मत है कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक अर्थात् क्षणध्वंसी है। इस बात के निराकरण के लिए 'नित्य' कहा है।

5. नैयायिक तथा वैशेषिक मत वाले मानते हैं कि मुक्ति में बुद्धियादि गुणों का विनाश हो जाता है। इस मत के निराकरण के लिए सिद्धों को ज्ञानादि आठ गुणों से युक्त कहा है।

6. ईश्वर को कर्त्ता मानने वालों के मत का निराकरण करने के लिए 'कृतकृत्य' कहा है अर्थात् अब (मुक्त होने पर) जीव को सृष्टि आदि बनाने का कार्य शेष नहीं रहा।

7. माण्डलिक मत वाला मानता है कि मुक्त जीव सदा ऊपर को ही गमन करता जाता है। उसके इस मत का निराकरण करने के लिए लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, ऐसा कहा है।

4.10 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–चार्वाक दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 2–बौद्ध दर्शन में मान्य आत्मा का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 3–जैन दर्शन के अनुसार जीव के लक्षण और विशेषताओं का उल्लेख बताइये ?

पाठ-5—जीव के नौ अधिकार (Nine Pecularities of *Jeev*)

5.1 सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह में वर्णित जीव के नौ अधिकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया जा रहा है—

उनमें से सर्वप्रथम **जीव का लक्षण** बताते हैं—

तिक्काले चदुपाणा, इंदिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दु चेदणाजस्स।।3।।

जिसके व्यवहार नयापेक्षा, तीनों कालों में चार प्राण।
इन्द्रिय बल आयू औ चौथा, स्वासोच्छ्वास ये मुख्य जान।।
निश्चयनय से चेतना प्राण, बस जीव वही कहलाता है।
ये दोनों नय से सापेक्षित, होकर पहचाना जाता है।।3।।

जिसके व्यवहारनय से तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं और निश्चयनय से चेतना प्राण है, वह जीव कहलाता है।

5.2 जीव उपयोगमयी है (*Jeev* has Consciousness)—

उवओगो दुवियप्पो, दंसण णाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही, दंसणमध केवलं णेयं।।4।।

उपयोग कहा है दो प्रकार, दर्शन औ ज्ञान उन्हें जानो।
पहले दर्शन के चार भेद, उससे आत्मा को पहचानो।।
चक्षूदर्शन बस नेत्रों से, होता अचक्षुदर्शन सबसे।
अवधीदर्शन केवलदर्शन, ये दोनों आत्मा से प्रगटें।।4।।

णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुदओही अणाणणाणाणी।
मणपज्जयकेवलमवि, पच्चक्ख परोक्खभेयं च।।5।।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद, उनमें मति श्रुत और अवधि जान।
मिथ्या सम्यक् के आश्रय से, छह हो जाते ये तीन ज्ञान।।
मनपर्यय केवलज्ञान इन्हीं, में भेद प्रत्यक्ष परोक्ष कहे।
मति श्रुत परोक्ष केवल प्रत्यक्ष, बाकी त्रय देश प्रत्यक्ष कहे।।5।।

"उपयोग दो प्रकार का है—ज्ञान और दर्शन। दर्शन तो निर्विकल्प है और ज्ञान सविकल्प है। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। इनके प्रत्यक्ष, परोक्ष ऐसे दो भेद भी माने गये हैं। मति, श्रुत तथा कुमति और कुश्रुत ये परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय तथा कुअवधि ये एकदेश प्रत्यक्ष हैं एवं केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।"

5.3 जीव अमूर्तिक है (Soul is Formless)—

वण्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो।।7।।

रस पाँच वर्ण भी पाँच गंध, द्वय आठ तथा स्पर्श कहे।
निश्चयनय से नहिं जीव में ये, इसलिए अमूर्तिक इसे कहें।।

व्यवहार नयाश्रित कर्मबंध, होने से मूर्तिक भी जानो।
एकांत अमूर्तिक मत समझो, नय द्वय सापेक्ष सदा मानो।।7।।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध और आठ स्पर्श, निश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं चूँकि ये बीस गुण पुद्गल के हैं अतः जीव अमूर्तिक है तथा जीव के साथ कर्मबंध लग रहा है इसलिए व्यवहारनय से मूर्तिक है।

5.4 यह आत्मा पुद्गल कर्मादि का कर्ता और भोक्ता कैसे है ? (How the Soul is doer and Experiencer of *Pudgal* Karmas)

पुग्गलकम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं।।8।।

व्यवहार नयाश्रित जीव कहा, पुद्गल कर्मादिक का कर्ता।
होता अशुद्ध निश्चयनय से, रागादिक भावों का कर्ता।।
है कहा शुद्ध निश्चयनय से, निज शुद्धभाव का ही कर्ता।
जब नय के भेद मिटा देता, तब होता भव दुख का हर्ता।।8।।

यहाँ तात्पर्य यही समझना कि प्रत्येक आत्मा संसार अवस्था में ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से राग, द्वेष आदि भावकर्मों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय से संसारी आत्मा ही अपने शुद्ध भावों का कर्ता है क्योंकि शुद्धनय से आत्मा सदा शुद्ध ही है, कर्मों का संबंध उसके है ही नहीं।

उसी प्रकार से यह जीव कर्मों के फल का भोक्ता भी है—

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स।।9।।

आत्मा व्यवहारनयाश्रय से, पुद्गल कर्मों के फल नाना।
सुख-दुःखों को भोगा करता, निज सुख को किंचित् नहिं जाना।।
निश्चयनय से निज आत्मा के, चेतन भावों का भोक्ता है।
निज शुद्ध ज्ञान दर्शन सहजिक, उनका ही तो अनुभोक्ता है।।9।।

यह आत्मा व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों के फल ऐसे सुख और दुःखों को भोगता है तथा निश्चयनय से अपनी आत्मा के शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्य भावों का ही भोक्ता है।

5.5 जीव स्वशरीर प्रमाण है (Soul Confines to Ownbody Size)—

यह जीव निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी व्यवहार से अपने शरीर प्रमाण है—

अणुगुरुदेह-पमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा, णिच्चयणयदो असंखदेसो वा।।10।।

यह आत्मा व्यवहारिक नय से, छोटे या बड़े स्वतनु में ही।
संकोच विसर्पण के कारण, रहता उस देह प्रमाण सही।।
हो समुद्घात में तनु बाहर, अतएव अपेक्षा नहिं उसकी।
निश्चयनय से होते प्रदेश, हैं संख्यातीत लोक सम ही।।10।।

समुद्घात के अतिरिक्त यह जीव व्यवहारनय से संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशी है।

5.6 जीव का संसारीपना एवं संसारी जीव के भेद (Types of Mundane Soul)—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं, ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

पुढविजलतेउवाऊ, वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी।।11।।

पृथ्वी, जल, अग्नी, वायुकाय, औ वनस्पतिकायिक जानो।
एकेन्द्रिय स्थावर पाँच कहे, इनके सब भेद विविध मानो।।
दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, औ पंचेन्द्रिय त्रस माने हैं।
जो शंख, पिपील, भ्रमर, मानव, आदिक से जाते जाने हैं।।11।।

समणा अमणा णेया, पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहुमेइंदी, सव्वे पज्जत्त इदरा य।।12।।

पंचेन्द्रिय संज्ञि-असंज्ञी दो, इनसे अतिरिक्त सभी प्राणी।
होते मन रहित असंज्ञी ही, विकलेन्द्रिय तीन भेद प्राणी।।
एकेन्द्रिय बादर-सूक्ष्म कहे, ये सात भेद हो जाते हैं।
पर्याप्त-अपर्याप्तक दो से, ये चौदह भेद कहाते हैं।।12।।

पंचेन्द्रिय जीव सैनी-असैनी ऐसे दो प्रकार के होते हैं, शेष सब जीव असैनी ही हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। ये सभी जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं अत: चौदह जीव समास हो जाते हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है कि—

पंचेन्द्रिय सैनी, पंचेन्द्रिय असैनी, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय ये सात हैं, इन सातों के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद कर देने से चौदह भेद हो जाते हैं। इन्हें ही चौदह जीवसमास कहते हैं।

5.7 सिद्धों का स्वरूप (Nature of Liberated Souls)—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पादवयेहिं संजुत्ता।।14।।

निष्कर्म जीव सब कर्मरहित, वे सिद्ध अष्ट गुण से युत हैं।
अन्तिम शरीर से किंचित् कम, उत्पाद और व्यय संयुत हैं।।
स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करके, वे नित्य निरंजन परमात्मा।
लोकाग्र शिखर पर स्थित हैं, अनुपम गुणशाली शुद्धात्मा।।14।।

जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित हैं और अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध आत्मा हैं। ये ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं।

जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है (Natural Upward Motion of Soul)

जीव जिस स्थान में सम्पूर्ण कर्मों से छूटता है ठीक उसी स्थान के ऊपर एक समय में ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाता है। चूँकि यह ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है।

5.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-उपयोग कितने प्रकार का है ? उनके नाम बताइये ?

प्रश्न 2-जीव का स्वशरीर प्रमाण से क्या आशय है ?

प्रश्न 3-चौदह जीव समास कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 4-सिद्धों का स्वरूप बताइये ?

इकाई–3 अजीव द्रव्य एवं अस्तिकाय (Non-soul Reality and Existents)

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—

(1) पुद्‌गल द्रव्य

(2) धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य

(3) अस्तिकाय

(4) द्रव्य की त्रयात्मकता का सिद्धांत

पाठ-1—पुद्‌गल द्रव्य (Mattergy)

1.1 अजीव द्रव्य (Non-soul Reality)—

जिसमें चेतना नहीं हो अर्थात् जिसमें जानने, देखने की शक्ति नहीं हो, वह अजीव द्रव्य है। इसमें कोई प्राण नहीं होते हैं। यद्यपि अजीव द्रव्यों में देखने व जानने की शक्ति नहीं होती है, मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें अन्य कोई गुण या शक्ति नहीं है क्योंकि गुणों व धर्मों से रहित कोई वस्तु होती ही नहीं है। जैन आगम में अजीव द्रव्य के पांच भेद किये गये हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

1.2 पुद्गल द्रव्य (Matter)—

''पुद्गल'' दो शब्दों से बना है। ''पुद्'' का अर्थ है—पूर्ण होना या मिलना और ''गल'' का अर्थ है—गलना या बिछुड़ना। जो पूरण व गलन स्वभाव वाला है अथवा जिसका संयोग– वियोग हो सके वह पुद्गल है। जड़ द्रव्यों का संयोग भी हो सकता है और वियोग भी अर्थात् उन्हें जोड़कर बड़ा आकार भी दिया जा सकता है व उन्हें तोड़कर छोटा भी किया जा सकता है। पुद्गल गतिशील अर्थात् सक्रिय होता है। जगत् में जो कुछ भी हमारे देखने, छूने, चखने, सुनने व सूंघने में आता है, वह सब पुद्गलों का पिण्ड है। पुद्गल स्कन्ध अपने प्रदेशों में चंचलता पैदा कर सकते हैं और परस्पर मिल व बिछुड़ सकते हैं। इनके प्रदेशों में एक दूसरे के भीतर समा जाने अथवा इनके परमाणुओं के भीतर से बाहर निकलने के कारण उसके आकार में परिवर्तन होना तथा परमाणुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करना पुद्गल का क्रियात्मक कार्य है। यह कार्य तीन द्रव्यों (धर्म, अधर्म और आकाश) की अपेक्षा रखता है।

1.3 पुद्‌गल के गुण (Attributes of Mattergy)—

पुद्गल में 5 रूप, 5 रस, 2 गंध और 8 स्पर्श कुल 20 गुण होते हैं—

1. रूप 5—जो नेत्र इन्द्रिय से देखकर जाना जावे। यह 5 प्रकार का होता है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इन रंगों को परस्पर मिला देने से अन्य प्रकार के रंग भी बन जाते हैं। जैसे पीला और नीला रंग मिलाने से हरा रंग बन जाता है और पीला और लाल मिलाने से संतरी रंग बन जाता है।

2. रस 5—जो रसना इन्द्रिय से चखकर जाना जावे। यह भी 5 प्रकार का होता है—खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा और कसायला।

3. गंध 2—जो घ्राण इन्द्रिय से सूंध कर जाना जावे। यह दो प्रकार का होता है—सुगंध और दुर्गन्ध।

4. स्पर्श 8—जो स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर जाना जावे। यह 8 प्रकार का होता है—हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कठोर, नरम, ठण्डा और गर्म।

इस प्रकार पुद्गल में रूप, रस, गंध और स्पर्श चार गुण पाये जाते हैं। ये चारों गुण पुद्गल के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं। ये चारों गुण एक साथ पाये जाते हैं। जैसे आम में पीला रूप, मीठा रस, अच्छी गंध और कोमल स्पर्श होता है। मोटे तौर पर जो भी हम देखते हैं, वह पुद्गल द्रव्य है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें ये चारों गुण नहीं पाये जाते हों। इस प्रकार पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्ण गुणों से युक्त है और अपने रूपान्तरण से ही शब्द या ध्वनि आदि अवस्थाओं (पर्यायों) को प्राप्त होता है।

1.4 पुद्गल के भेद (Types of Matter)—

पुद्गल के दो भेद हैं—अणु (परमाणु) और स्कन्ध।

1. अणु (परमाणु) पुद्गल—पुद्गल द्रव्य का सबसे छोटा आकार अणु है, इसके आदि, मध्य व अन्त नहीं होता है और इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं। इसको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अणु नित्य है, मूर्तिक है, अविभागी है, एक प्रदेशी है और शब्द रूप नहीं है। यह यद्यपि मूर्तिक है, फिर भी सामान्य चक्षु इन्द्रिय से दिखाई नहीं देता है। वह किसी यंत्र द्वारा भी नहीं देखा जा सकता है। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान का विषय है। अणु को ही परमाणु भी कहा जाता है।

आज के वैज्ञानिक जिसे परमाणु कहते हैं, उसमें भी अनेक प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन होते हैं। जैन आगम में जिसे अणु अर्थात् परमाणु कहा गया है, वह इनसे भी छोटा होता है। इस अणु के और टुकड़े हो ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक परमाणु का आकार जैन परमाणु से बहुत बड़ा है। लोक में जितने भी परमाणु हैं, उनकी संख्या उतनी ही रहती है, न घटती है और न बढ़ती है। उनकी अवस्था बदलती रहती है।

2. स्कन्ध पुद्गल—दो या अधिक परमाणु पुद्गलों के परस्पर मिलने को स्कन्ध कहते हैं। पृथ्वी, जल, छाया, धूप, अंधेरा, चाँदनी आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। चिकनाई व रूखापन पुद्गल के गुण हैं और इन्हीं के कारण पुद्गल परमाणु बंधकर स्कन्ध बनता है। बंध होने पर अधिक गुण वाला परमाणु कम गुण वाले परमाणु को अपने रूप कर लेता है।

आकार की अपेक्षा से स्कन्ध पुद्गल के भेद—

स्कन्ध पुद्गल स्थूल (बादर) भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं।

आकार (स्थूल अथवा सूक्ष्म) की अपेक्षा से स्कन्ध पुद्गल के 6 भेद होते हैं जो निम्न हैं—

1. स्थूल-स्थूल—जो टूटने पर स्वयं नहीं जुड़ सके। जैसे पत्थर, लकड़ी, कपड़ा आदि।

2. स्थूल—जो छेदन-भेदन करने के पश्चात् स्वयमेव जुड़ जाते हैं। जैसे तेल, घी, पानी, पारा आदि।

3. स्थूल-सूक्ष्म—जो आँखों से देखे जा सकें मगर पकड़ में नहीं आ सकें। ये चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होते हुए भी अन्य इन्द्रियों से ग्राहय नहीं हैं। जैसे छाया, धूप, चाँदनी, अन्धकार आदि।

4. सूक्ष्म-स्थूल—जो आँखों से तो दिखाई नहीं देते, किन्तु शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं। जैसे वायु, शब्द, गंध आदि।

5. सूक्ष्म—जो किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाने जा सकते हैं। ये अन्य परमाणुओं से न तो रुकते हैं और न ही अन्यों को रोकते हैं। जैसे कर्मवर्गणा आदि। रेडियो की तरंगें तथा एक्सरे की किरणें इस श्रेणी में ग्रहण की जा सकती हैं।

6. सूक्ष्म-सूक्ष्म—परमाणुओं का सबसे छोटा स्कंध अर्थात् केवल 2 परमाणुओं के स्कन्ध को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

वर्गणा—

समान गुण वाले पुद्गल परमाणुओं के वर्गों/समूहों को वर्गणा कहते हैं। यह लोक के सर्व प्रदेशों पर अवस्थित है। सभी परमाणु एक ही जाति के होते हैं और इनमें भेद नहीं होता है। इनके परस्पर मिल जाने पर जो सूक्ष्म या स्थूल

स्कन्ध बनते हैं, उनमें जातिभेद होना स्वाभाविक है। परमाणुओं के योग से सर्वप्रथम एक अति सूक्ष्म स्कन्ध बनता है जिसे शास्त्रों में वर्गणा का नाम दिया गया है। विज्ञान इसे मोलीक्यूल (Molecule) कहता है। जैन दर्शन के अनुसार ये वर्गणा समस्त विश्व में ठसाठस भरी हुई है। इन वर्गणाओं के योग से पृथ्वी, अप (पानी), तेज (अग्नि) और वायु बनते हैं और इनके योग से ही लोक में सकल दृष्ट पदार्थों का निर्माण हुआ है।

1.5 पुद्गल वर्गणा के भेद (Kinds of Molecules)—

इनके 23 भेद निम्नानुसार हैं—

(1) अणु वर्गणा (2) संख्याताणु वर्गणा (3) असंख्याताणु वर्गणा
(4) अनन्ताणु वर्गणा (5) आहार वर्गणा (6) अग्राह्य वर्गणा (प्रथम)
(7) तैजस शरीर वर्गणा (8) अग्राह्य वर्गणा(द्वितीय) (9) भाषा वर्गणा
(10) अग्राह्य वर्गणा (तृतीय (11) मनो वर्गणा (12) अग्राह्य वर्गणा (चतुर्थ)
(13) कार्मण वर्गणा (14) ध्रुव स्कन्ध वर्गणा (15) सान्तर-निरन्तरवर्गणा
(16) ध्रुव शून्य वर्गणा(प्रथम) (17) प्रत्येक शरीर वर्गणा (18) ध्रुव शून्य वर्गणा (द्वितीय)
(19) बादर निगोद वर्गणा (20) ध्रुव शून्य वर्गणा(तृतीय) (21) सूक्ष्मनिगोद वर्गणा
(22) ध्रुव शून्य वर्गणा (चतुर्थ) और (23) महास्कन्ध वर्गणा।

ग्रहण योग्य जो वर्गणाएं हैं उन्हें ग्राह्य वर्गणा कहते हैं और जो ग्रहण योग्य नहीं हैं उन्हें अग्राह्य वर्गणा कहते हैं। उपरोक्त वर्गणाओं में से पांच प्रकार की वर्गणाऐं ही ग्रहण योग्य हैं। इनका विवरण निम्न है—

(1) आहार वर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों तथा श्वासोच्छ्वास की रचना होती है।

(2) तैजस वर्गणा के द्वारा तैजस शरीर की रचना होती है। यह औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों को कांति व ऊष्मा देता है और खाना पचाता है।

(3) भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार के वचनों की रचना होती है।

(4) मनो वर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमल के आकाररूप द्रव्य मन की रचना होती है।

(5) कार्मण वर्गणा—कर्म रूप परिणमित होने योग्य वर्गणाओं को कार्मण वर्गणा कहते हैं। इनके द्वारा आठ प्रकार के कर्म बनते हैं। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से जीव के आत्मप्रदेशों में प्रतिसमय परिस्पन्दन होता रहता है। जीव के इस परिस्पन्दन के निमित्त से कार्मण वर्गणाएं कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा के साथ बंध जाती हैं। बिना निमित्त के ये वर्गणाएं कर्म रूप नहीं हो सकती हैं। एक-एक जीव के अनन्त कर्मवर्गणा लगी हुई हैं।

नोकर्म वर्गणा—

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों के योग्य वर्गणाओं को नोकर्म-वर्गणा कहते हैं।

उपरोक्त 23 प्रकार की वर्गणाओं में से कार्मण, भाषा, मनो व तैजस वर्गणाओं के अतिरिक्त शेष 19 प्रकार की वर्गणाएं नोकर्म वर्गणा हैं।

1.6 पुद्गल के उपकार (Contribution of Matter)—

प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ-क्रिया से स्वयं को व अन्य को प्रभावित करता रहता है। इसे उपग्रह या उपकार कहते हैं। पुद्गल द्रव्य जहां पुद्गल का उपकार करता है, वहीं जीव द्रव्य का भी उपकार करता है। जीव व पुद्गल का अनादिकालीन

सम्बन्ध है। जीव की समस्त अवस्थाएं और क्रियाएं पुद्गल सापेक्ष हैं। आहार, शरीर-निर्माण, इन्द्रिय-संरचना, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मानसिक चिन्तन के लिये वह निरन्तर पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है अर्थात् जीव की समस्त क्रियाएं पुद्गल से ही सम्पादित होती हैं। पुद्गल के बिना जीव एक क्षण के लिये भी संसार में नहीं रह सकता है। पुद्गल-जगत से सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही जीव की मुक्ति संभव है।

1.7 पुद्‌गल की पर्यायें (Modes of Mattergy)-

पर्याय (Mode)—

गुणों की अवस्था या परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। पर्याय के दो भेद हैं—१. स्वभावपर्याय, २. विभावपर्याय

(1) स्वभाव पर्याय—परमाणु का अन्य निरपेक्षरूप परिणमन पुद्‌गल की स्वभाव पर्याय है।

(2) विभाव पर्याय—परमाणु का स्कंध रूप परिणमन पुद्‌गल की विभाव पर्याय है।

पुद्‌गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायें—

सद्दोबंधो सुहमो, थूलो संठाण भेदतम छाया।
उज्जोदादव सहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।16।। (द्रव्य संग्रह)

इस गाथा में कही शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्‌गल द्रव्य की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याये हैं।

1.8 शब्द (Sound)—

भाषावर्गणा के स्कंधों के संयोग-वियोग के कारण जो ध्वनिरूप परिणमन है, उसे शब्द कहते हैं। अथवा ध्वनि रूप क्रिया धर्म को शब्द कहते हैं। अथवा बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा, अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि है, वह शब्द है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—भाषात्मक शब्द, अभाषात्मक शब्द।

भाषात्मक शब्द—त्रस जीवों के योग के कारण होने वाली ध्वनि को भाषात्मक कहते हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के होते हैं-अक्षरात्मक शब्द, अनक्षरात्मक शब्द। जिसमें अक्षर होते हैं, उसे अक्षरात्मक कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी, पाली, हिन्दी, मराठी, तेलगू, कन्नड़ आदि अनेक प्रकार की अक्षरात्मक भाषा होती है। इससे आर्य, म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार की प्रवृत्ति होती है।

अनक्षरात्मक भाषा—जिससे उनके सातिशय ज्ञान का पता चलता है ऐसे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक भाषा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय व संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के अनक्षरात्मक भाषा होती है तथा

अभाषात्मक शब्द—वाद्य यंत्रों और बादलों से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के होते हैं—1. प्रायोगिक, 2. वैस्रसिक।

प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द—यथा योग्य दो पौद्‌गलिक स्कंधों के प्रयोग संबंध होने पर जो शब्द उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द कहते हैं। प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द चार प्रकार के होते हैं-1. तत 2. वितत 3. घन 4. सुषिर।

तत शब्द—वीणा, सितार आदि के तारों से उत्पन्न होने वाले शब्द को तत शब्द कहते हैं।

वितत शब्द—चर्म से मढ़े हुए ढोल नगारे आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द को वितत शब्द कहते हैं।

घन शब्द—कांसे आदि धातुओं से निर्मित मंजीरे तथा ताल आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द को घन शब्द कहते हैं।

सुषिर शब्द—वंशी (बांसुरी), तुरी, शंख आदि को फूंककर बजाने से उत्पन्न हुए शब्द को सुषिर शब्द कहते हैं।

वैस्रसिक अभाषात्मक शब्द—विस्रसा अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न मेघगर्जना आदि के शब्द को वैस्रसिक अभाषात्मक शब्द कहते हैं।

1.9 बंध (Bondage / Union)—

दो या अनेक पदार्थों के परस्पर एकमेक हो जाने को बंध कहते हैं। बंध दो प्रकार के हैं—1. केवल पुद्‌गलात्मक 2. जीव पुद्गलात्मक।

केवल पुद्‌गलात्मक बंध—मृत्तिका आदि के पिण्ड रूप से जो घट, गृह, मोदक (लड्डू) आदि बंध केवल पुद्‌गलात्मक बंध है।

जीव पुद्‌गलात्मक बंध—जो जीव के साथ ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिक आदि तीन शरीर छह पर्याप्ति के योग्य पुद्‌गल वर्गणाओं का बंध जीव तथा पुद्‌गल के संयोग से उत्पन्न बंध जीव पुद्‌गलात्मक बंध है।

1.10 सूक्ष्म (Micro Particle)—

अल्प परिमाण को सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म दो प्रकार का है—1. साक्षात् सूक्ष्म, 2. अपेक्षाकृत सूक्ष्म।

साक्षात् सूक्ष्म—जिससे सूक्ष्म अन्य कोई न हो, उसे साक्षात् सूक्ष्म कहते हैं। जैसे—परमाणु।

अपेक्षाकृत सूक्ष्म—जो सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा रखकर प्रतीत हो, उसे अपेक्षाकृत सूक्ष्म कहते हैं। जैसे-बेल फल की अपेक्षा बेर आदिक अपेक्षाकृत सूक्ष्म है।

1.11 स्थूल—

बड़े परिमाण वाले को स्थूल कहते हैं। स्थूल के दो भेद हैं—1. अपेक्षाकृत स्थूल, 2. उत्कृष्ट स्थूल।

अपेक्षाकृत स्थूल—जो स्थूलता किसी की अपेक्षा रखकर प्रतीत होती है, उसे अपेक्षाकृत स्थूल कहते हैं। जैसे-बेर फल की अपेक्षा बेलफल अपेक्षाकृत स्थूल है।

उत्कृष्ट स्थूल—जिससे स्थूल अन्य कोई न हो, उसे उत्कृष्ट स्थूल कहते हैं। जैसे-तीनलोक रूप महास्कंध उत्कृष्ट स्थूल है।

1.12 संस्थान का अर्थ (Meaning of Shape / Figure)—

मूर्त पदार्थ के आकार को संस्थान कहते हैं।

संस्थान के प्रकार—समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक ये छह प्रकार का संस्थान व्यवहार नय से जीव का होते हुए भी निश्चयनय से पुद्‌गल का ही है। जो गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदिरूप अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्‌गल के ही हैं।

समचतुरस्र संस्थान—ऊपर नीचे मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा बनाये गये समचक्र की तरह समानरूप से शरीर के अवयवों की रचना होना समचतुरस्र संस्थान है।

न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान—बड़ के पेड़ की तरह नाभि के ऊपर भारी और नीचे लघु प्रदेशों की रचना न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है।

स्वाति संस्थान—न्यग्रोध से उलटा ऊपर लघु और नीचे भारी वल्मीक (सर्प के बिल) की तरह रचना स्वाति संस्थान है।

कुब्जक संस्थान—पीठ पर बहुत पुद्‌गलों का पिण्ड हो जाना अर्थात् कुबड़ापन कुब्जक संस्थान है।

वामन संस्थान—सभी अंग उपांगों को छोटा बनाने में कारण वामन संस्थान है। अर्थात् बौने शरीर को वामन संस्थान कहते हैं।

हुण्डक संस्थान—सभी अंग और उपांगों का बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना हुण्डक संस्थान है। अर्थात्-विषम अनेक आकार वाले शरीर की रचना को हुण्डक संस्थान कहते हैं।

1.13 भेद (Divisions)—

वस्तु को अलग-अलग चूर्णादि करने को भेद कहते हैं। भेद छह प्रकार के होते हैं—1. उत्कर 2.चूर्ण 3. खण्ड 4. चूर्णिका 5. प्रतर 6. अणुचटन।

उत्कर—करोंत आदि से जो लकड़ी को चीरा जाता है, उसे उत्कर कहते हैं।

चूर्ण—गेहूँ आदि का जो सत्तू और कनक (दलिया) आदि बनता है, उसे चूर्ण कहते हैं।

खण्ड—घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं, उसे खण्ड कहते हैं।

चूर्णिका—उड़द और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है, उसे चूर्णिका कहते हैं।

प्रतर—मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं, उसे प्रतर कहते हैं।

अणुचटन—तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन से पीटने पर जो फुलिंगे निकलते हैं, उसे अणुचटन कहते हैं।

1.14 तम—

दृष्टि को अवरोध करने (रोकने) वाले अंधकार को तम कहते हैं।

1.15 छाया—

प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती है, उसे छाया कहते हैं।

1.16 उद्योत—

चन्द्र विमान, चन्द्रकांत मणि तथा खद्योत (जुगनू) आदि के निमित्त से जो प्रकाश होता है, उसे उद्योत कहते हैं।

1.17 आतप—

सूर्य विमान, सूर्यकांत मणि आदि पृथ्वीकाय के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।

अतः पुद्‌गल की उपर्युक्त अवस्थाओं से यह सिद्ध होता है कि मूल द्रव्य के रूप में पुद्‌गल भले ही एक द्रव्य है किन्तु इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता बहुत अधिक है। जिधर नजर उठाकर देखे उधर पुद्‌गल ही पुद्‌गल नजर आते हैं। यह पुद्‌गल प्रायः स्कंधरूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए हैं।

1.18 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-अजीव द्रव्य किसे कहते हैं ? उनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-पुद्‌गल का क्या अर्थ है ? उसकी पर्यायें कौन-कौन सी है ?

प्रश्न 3-पुद्‌गल के गुणों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 4-अणु और स्कंध में अन्तर बताइये ?

प्रश्न 5-पर्याय किसे कहते हैं ? इसके 2 प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 6-पुद्‌गल की विभाव व्यंजन पर्यायों के नाम बताइये ?

प्रश्न 7-अनक्षरात्मक भाषा किन-किन जीवों की होती है ?

प्रश्न 8-संस्थान का अर्थ बताते हुए इसके प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?

पाठ-2 — धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्य
(Medium of Motion, Medium of Rest, Space and Time Realities)

2.1 धर्म द्रव्य (Medium of Motion) —

जीव व पुद्गल दोनों द्रव्य क्रियाशील हैं, हलन-चलन करते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। यदि कोई द्रव्य हलन-चलन करता है या एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, तो इस हेतु का कोई माध्यम होना चाहिए। यह माध्यम ही धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य जीव व पुद्गल के गमन में उदासीन रूप से सहायक होता है। जीव व पुद्गल को चलने की प्रेरणा धर्म द्रव्य नहीं देता है, अपितु जब वे चलते हैं तो उदासीन रूप से मदद अवश्य करता है। जैसे जल मछलियों के तैरने में सहायक है अथवा पतंग को उड़ने में हवा सहायक है। यदि यह द्रव्य नहीं हो तो हम चल नहीं सकेंगे। कोई भी पदार्थ शून्य में गमन नहीं कर सकता है। किसी भी क्रिया के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है। जैन धर्म के अनुसार इस माध्यम को धर्म द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अन्य किसी द्रव्य से प्रभावित नहीं होता है। केवल जीव व पुद्गल द्रव्य ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

यह धर्म द्रव्य समूचे लोक में तिल में तेल की तरह व्याप्त है, मगर आँखों से दिखाई नहीं देता है। यह अचेतन है और इसका कोई रूप भी नहीं है अर्थात् अरूपी है। यह न तो चलता है और न ही फैलता या सिकुड़ता है। इसका आकार जीव पदार्थ की भांति लोकाकाश जितना है और इसके प्रदेशों की संख्या भी लोकाकाश के समान असंख्यात है। लोकाकाश के बाहर यह द्रव्य नहीं है। इसी वजह से कोई जीव लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकता है।

आज के वैज्ञानिकों ने जिस पदार्थ को ईथर नाम दिया है, वह जैन आगम का धर्म द्रव्य है। (यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग पुण्य के अर्थ में नहीं है, अपितु यह एक द्रव्य है।)

2.2 अधर्म द्रव्य (Medium of Rest) —

जो द्रव्य स्वयं ठहरते हुए अन्य जीव या पुद्गल को ठहरने में उदासीन रूप से सहायक है, वह अधर्म द्रव्य है। अन्य जीव व पुद्गल को ठहरने की प्रेरणा अधर्म द्रव्य नहीं देता है, अपितु जब वे ठहरते हैं तो उनकी सहायता अवश्य करता है। जैसे वृक्ष की छाया यात्री को ठहरने में सहायक होती है। यदि यह द्रव्य नहीं हो तो हम ठहर नहीं सकेंगे।

यह अधर्म द्रव्य समस्त लोक में तिल में तेल की तरह व्याप्त है, मगर आँखों से दिखाई नहीं देता है। यह भी अचेतन और अरूपी है। यह न तो चलता है, न सिकुड़ता है और न ही फैलता है। इसका आकार जीव की भांति लोकाकाश जितना है और प्रदेशों की संख्या भी लोकाकाश के समान असंख्यात है। (यहाँ अधर्म शब्द का उपयोग पाप के अर्थ में नहीं है, अपितु यह एक द्रव्य है।)

2.3 आकाश द्रव्य (Space Reality) —

आकाश का अर्थ है अवकाश (स्थान) देना। सामान्य भाषा में ऊपर जो नीला-नीला दिखाई देता है, उसे आकाश कहते हैं। मगर जैन आगम में आकाश का अर्थ वह द्रव्य है जो अन्य द्रव्यों को अवकाश (अवगाहन या स्थान) देता है।

जो नीला आकाश हमें दिखाई देता है, वह आकाश नहीं होकर क्षुद्र अणुओं का रंग समझो जो कि इस वायुमण्डल में नित तैरते हैं और सूर्य की किरणों को प्राप्त कर नीले रंग में नजर आते हैं। जो हमें नजर आता है वह पुद्गल होना चाहिए। मगर आकाश द्रव्य पुद्गल नहीं है। वस्तुतःआकाश द्रव्य अमूर्तिक व रंगहीन है और इसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। यहां अपने चारों ओर जो खाली स्थान दिखाई देता है, वह खाली जगह ही वस्तुतः आकाश द्रव्य है। जहां तक दृष्टि फैलाये वहां तक सर्वत्र आकाश ही आकाश है। हमारी दृष्टि तो क्षितिज तक ही जा सकती है। मगर क्षितिज का कहीं

अन्त है ही नहीं। क्षितिज की ओर हम चाहे कितनी भी दूरी तक चले जावे, क्षितिज हमसे दूर ही रहता है। वस्तुतः हमारी दृष्टि सीमित दूरी तक ही देख सकती है जबकि आकाश का कोई अन्त नहीं है। इस प्रकार आकाश द्रव्य सब दिशाओं में अनन्त तक व्याप्त है। इसका कहीं अन्त नहीं है, अतः इसे व्यापक कहा जाता है। इस आकाश द्रव्य में ही जीव, पुद्गल, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि सभी द्रव्य रहते हैं। यह स्पर्श रहित और क्रिया रहित है। यदि यह द्रव्य नहीं हो तो किसी भी वस्तु आदि को ठहरने हेतु जगह नहीं मिलती। आकाश में असंख्यात सूर्य, चन्द्रमा व पृथ्वी आदि अधर स्थित हैं। यह आकाश द्रव्य की विचित्र अवगाहना शक्ति का चमत्कार है।

आकाश द्रव्य स्वयं प्रतिष्ठित है, नित्य है और सदैव ऐसे का ऐसा ही रहा है और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा।

यह दो प्रकार का होता है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

(1) लोकाकाश—लोक के जितने भाग में छहों द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है।

(2) अलोकाकाश—लोक के जितने भाग में केवल एक आकाश द्रव्य पाया जाता है, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के बाहर जो अनन्त आकाश है, वही अलोकाकाश है।

2.४ काल द्रव्य (Time Reality)—

जो स्वयं परिणमते हुए अन्य सभी द्रव्यों के परिणमन (परिवर्तन) में सहकारी है, वह कालद्रव्य है। वस्तु मात्र के परिवर्तन में यह द्रव्य सहायक है। यह परिवर्तन स्वाभाविक है और रोका नहीं जा सकता है। सभी पदार्थ अपने-अपने गुण पर्यायों द्वारा स्वयं प्रतिक्षण परिणमन को प्राप्त होते हैं, किन्तु बाह्य निमित्त के बिना यह परिणमन शक्ति व्यक्त नहीं होती है। जिस प्रकार कुम्हार के चक्र के फिरने में उसके नीचे लगी "कील" सहायक होती है उसी प्रकार काल द्रव्य सहायक है, बिना कील के चक्र का घूमना संभव नहीं है। इसी प्रकार काल द्रव्य के बिना पदार्थों का परिणमन सम्भव नहीं है। अतः काल द्रव्य पदार्थ के परिणमन में सहायक है। काल द्रव्य उनका परिणमन बलात् नहीं करता है, अपितु मात्र सहकारी निमित्त है। यह अनादि अनन्त है, वर्तना ही इसका लक्षण है। काल द्रव्य को निज परिणमन हेतु अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि परिणमन ही इसका स्वभाव है। काल द्रव्य सूक्ष्म परमाणु बराबर है।

हम प्रायः देखते हैं कि जो व्यक्ति जवानी में सुन्दर था, बुढ़ापे में उसके चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं और उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार नया मकान 100-150 वर्षों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। जब किसी ने कुछ नहीं किया तो ऐसा क्यों होता है? यह जो परिवर्तन होता है वह काल द्रव्य का ही कार्य है। काल द्रव्य के कालाणु सम्पूर्ण लोक के एक-एक प्रदेश पर अवस्थित हैं। ये कालाणु एक दूसरे से बंध को प्राप्त नहीं होते हैं और अपनी स्वतंत्र सत्ता में बने रहते हैं। जैसे रत्नों के ढेर में रत्न परस्पर मिले हुए तो रहते हैं मगर परस्पर बंध को प्राप्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कालाणु रत्नों की मणियों की तरह आकाश में अलग-अलग प्रदेशों पर स्थित है। कालाणुओं का परस्पर न मिलने के कारण यह काल द्रव्य अकाय या अप्रदेशी कहलाता है। परन्तु ये अदृश्य, निराकार, निष्क्रिय और असंख्यात होते हैं।

काल द्रव्य के भेद दो हैं—

(1) निश्चय काल—लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अलग-अलग काल के अणु स्थित हैं। इन कालाणुओं को ही निश्चय काल कहते हैं। इन कालाणुओं के निमित्त से ही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। ये कालाणु स्वयं पलटते हैं और अन्य द्रव्यों को पलटने में सहायक होते हैं। इन्हीं के निमित्त से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व कायम है।

(2) व्यवहार काल—आकाश में एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मन्द गति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए दूसरे प्रदेश में पहुँचता है, उसे, "समय" कहते हैं। यह काल की सबसे छोटी इकाई है। समयों के समूह को ही आवली, श्वासोच्छ्वास कहते हैं और इसी से घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह, वर्ष बनते हैं। यह सब व्यवहार काल है।

2.5 द्रव्यों की संख्या (Number of Realities) —

जीव द्रव्य अनन्त हैं। उससे अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं क्योंकि ये द्रव्य अखण्ड हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं। लोकाकाश में जितने भी प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं क्योंकि एक-एक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य स्थित है। इन छहों द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य की संख्या ज्यों की त्यों रहती है व घटती-बढ़ती नहीं है।

2.6 सक्रिय-निष्क्रिय द्रव्य (Active and Non-Active Realities) —

गमन करने, ठहरने तथा हलन-चलन की क्रिया जीव व पुद्गल द्रव्यों की ही होती है, अतः ये सक्रिय हैं। शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं अर्थात् एक स्थान पर अचल रूप से स्थित हैं। निष्क्रिय का अर्थ केवल गति रहित है, न कि परिणमन रहित । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूपी अवस्थाएं सभी छः द्रव्यों में होती हैं किन्तु क्रिया संसारी जीव और पुद्गल में ही होती है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों में यद्यपि ये क्रियाएं नहीं होती हैं, किन्तु ये जीव व पुद्गल की उक्त क्रियाओं (चलने, ठहरने और अवगाहन देने) में सहकारी हैं।

मूर्तिक-अमूर्तिक द्रव्य —

जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा सूंघकर, चखकर, देखकर, सुनकर या छूकर जाना जा सके वह मूर्तिक है और जो नहीं जाना जा सके वह अमूर्तिक है।

छः द्रव्यों में से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते हैं। अतः वे अमूर्तिक हैं। पुद्गल द्रव्य को हम इन्द्रियों से जान सकते हैं, अतः यह मूर्तिक है। लोक में दिखाई देने वाले समस्त पदार्थ मूर्तिक हैं। जैसे भूमि, पत्थर, ईंट, अग्नि, शरीर, वनस्पति आदि।

जीव अपने स्वभाव की अपेक्षा अमूर्त है तथापि संसारी जीव अनादि काल से कर्मों से बद्ध होने के कारण कथंचित् मूर्त भी है। इसी कारण जीव को स्वभावतः अमूर्तिक होने के बाद भी कर्म-संयुक्त अर्थात् कथंचित् मूर्तिक भी कहा गया है।

द्रव्यों का आकार —

द्रव्य का सबसे छोटा आकार अणुरूप है और सबसे बड़ा आकार आकाशरूप है।

2.7 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) —

प्रश्न 1-धर्म द्रव्य का लक्षण बताइये ?

प्रश्न 2-अधर्म द्रव्य का क्या कार्य है ?

प्रश्न 3-आकाश द्रव्य का क्या अर्थ है, यह कितने प्रकार का है ?

प्रश्न ४-काल द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसके प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए ?

पाठ-3 – अस्तिकाय (Existents)

3.1 अस्तिकाय (Existent) —

अस्ति का अर्थ है — विद्यमान है और काय का अर्थ है — 'शरीर'। यद्यपि सामान्य भाषा में चमड़ी, हड्डी आदि के शरीर को काय कहते हैं, लेकिन यहाँ एक प्रदेश (एक अणु द्वारा घेरे जाने वाला स्थान) से अधिक प्रदेश वाले पदार्थों को काय कहा गया है। जैसे शरीर बहुप्रदेशी है, वैसे ही काल द्रव्य के अतिरिक्त शेष 5 द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं अर्थात् इन पांचों द्रव्यों में एक से अधिक प्रदेश होते हैं और जो द्रव्य सत्ता रूप होकर बहुप्रदेशी हो, वह अस्तिकाय है इसलिये इन पांचों द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) को अस्तिकाय कहते हैं।

काल द्रव्य के परमाणु असंख्य होने पर भी ये सभी अलग–अलग रहते हैं और परस्पर कभी नहीं मिलते हैं। काल परमाणुओं में परस्पर मिलकर बहुप्रदेशी होने की योग्यता नहीं है अतः काल द्रव्य को काय नहीं कहा जाता है। शेष 5 द्रव्यों के प्रदेश एक दूसरे से मिले रहते हैं अतः वे अस्तिकाय हैं।

पंचास्तिकाय —

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश पांच अस्तिकाय हैं। इन्हें ही पंचास्तिकाय कहते हैं।

अस्तिकाय —

आगमों में स्थान–स्थान पर विश्व व्यवस्था के संदर्भ में अस्तिकाय शब्द का प्रयोग हुआ है। अस्तिकाय जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण एवं पारिभाषिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द अस्ति और काय इन दो शब्दों से बना है। यहाँ अस्ति का अर्थ प्रदेश और काय का अर्थ समूह से किया गया है अतः अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशसमूह या अवयव समुदाय है। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा अर्थात् परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय अर्थात् समूह ही अस्तिकाय है। धर्म–अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाये, तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य है। उसका सबसे सूक्ष्म, शुद्ध एवं अविभाज्य रूप परमाणु है। परमाणु मिलते हैं और अलग होते हैं। इसका मतलब यह है कि परमाणु के स्कंध बनते हैं और वे टूटते भी हैं। कोई स्कंध शाश्वत नहीं है क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। जिस स्कंध में जितने परमाणु होते हैं, वह उतना ही प्रदेश होता है। द्विप्रदेशी स्कंध में दो प्रदेश, त्रिप्रदेशी स्कंध में तीन प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कंध होते हैं।

अस्तिकाय का त्रैकालिक अस्तित्व है। वे नित्य तथा त्रैकालिक भाव परिणत हैं।

3.2 द्रव्य और अस्तिकाय (Realities And Existents) —

एवं छब्भेयमिदं, जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं, णायव्वा पंच अत्थिकाया दु।।23।।

इस विधि से ये छह भेद रूप, जो द्रव्य कहे परमागम में।
वे जीव अजीवों के प्रभेद, से ही माने जिनशासन में।।
इनमें से कालद्रव्य वर्जित, जो पाँच द्रव्य रह जाते हैं।
वे ही अर्हंतदेव भाषित, पंचास्तिकाय कहलाते हैं।।23।।

मूल में द्रव्य के जीव और अजीव ये दो ही भेद हैं। इसी में अजीव के पाँच भेद होने से द्रव्य के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह भेद हो जाते हैं।

इन छहों द्रव्यों में काल द्रव्य को छोड़कर पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। ग्रंथकार स्वयं अस्तिकाय का लक्षण बतलाते हैं—

संति जदो तेणेदे, अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा, तम्हा काया या अत्थिकाया य।।24।।

जिस हेतू से ये 'सन्ति' हैं, इस हेतू से ही 'अस्ति' कहे।
इस विध श्रीजिनवर कहते हैं, ये विद्यमान ही सदा रहें।।
ये बहुप्रदेशयुत काय सदृश, इसलिए 'काय' माने जाते।
दोनों पद मिलकर 'अस्तिकाय', संज्ञा से ये जाने जाते।।24।।

ये द्रव्य 'सन्ति' अर्थात् विद्यमान हैं इसलिए इन्हें 'अस्ति' अर्थात् 'हैं' ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं और जिस हेतु से ये काय—शरीर के समान बहुत प्रदेशी हैं उसी हेतु से ये काय इस नाम को प्राप्त हैं अत: ये पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' इस सार्थक नाम वाले हैं।

यद्यपि इन पाँचों द्रव्यों में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि से परस्पर में भेद है फिर भी अस्तित्व की अपेक्षा से अभेद है अर्थात् अस्तित्व की दृष्टि से सभी द्रव्य एक रूप ही हैं। इसी अस्तित्व को न समझकर ही ब्रह्माद्वैत आदि 'अद्वैत' मतों की स्थापना हो गई है।

प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेष ऐसे दो प्रकार के गुण माने गये हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं और ज्ञान, दर्शन, रूप, रस आदि विशेष गुण हैं। शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय है, केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं और इसी शुद्ध मुक्त जीव में अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। ऐसे ही सिद्धजीव में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी होते हैं। उनमें अव्याबाध, अनंतसुख आदि अनंत गुणों की प्रगटतारूप **कार्यसमयसार** का उत्पाद हुआ है। रागादि विभाव रहित परमस्वास्थ्यरूप **कारणसमयसार** का विनाश हो गया है और कार्य-कारण समयसार दोनों के आधारभूत परमात्म द्रव्यरूप से वो ही आत्मा ध्रौव्य स्थिररूप हैं। ये तीनों एक ही समय में होते हैं।

जैसे—गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण से सहित सिद्ध जीवों का अस्तित्व है, वैसे ही संसार अवस्था में अशुद्ध गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सहित सम्पूर्ण जीव समूह का भी अस्तित्व है। ऐसे ही सभी द्रव्यों का भी अस्तित्व है अत: शुद्ध-अशुद्ध सभी द्रव्यों में अस्तित्व गुण समान रूप से पाया जाता है।

इस कारण छहों द्रव्य अस्तिरूप हैं किन्तु काय का लक्षण काल द्रव्य में घटित न होने से उसे छोड़कर शेष पाँच द्रव्य कायरूप हैं अत: पाँच द्रव्य ही 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। बहुत से प्रदेशों का प्रचय (समूह) जिसमें पाया जाए, उसे ही काय संज्ञा है।

3.3 किसमें कितने प्रदेश हैं ? (How many *Pradheshas* i.e. Space-points are there in different Realities)

अब इसे स्पष्ट करते हैं—

होति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ।।25।।

इक जीव धर्म व अधर्म में, माने प्रदेश हैं असंख्यात।
नभ में अनंत होते प्रदेश, औ लोकाकाश में असंख्यात।।
पुद्गल में त्रिविध प्रदेश कहे, जो संख्य असंख्य अनंते भी।
बस काल में एक प्रदेश कहा, नहिं काय नाम है अत: सही।।25।।

एक जीव द्रव्य में, धर्मद्रव्य में और अधर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक जीव में असंख्यात प्रदेश हैं यदि वे फैल जावें तो लोकाकाश प्रमाण हो जाएं किन्तु संसार अवस्था में कर्म से सहित जीव को जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उतने ही प्रमाण में संकुचित होकर या विस्तृत होकर रहते हैं, शरीर से बाहर नहीं जाते हैं। आगम में सात प्रकार के समुद्घात कहे हैं। उन प्रसंगों में आत्मा से बाहर भी प्रदेश चले जाते हैं तथा इसी में एक केवली समुद्घात है उसकी अपेक्षा से जीव के प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं। आकाश द्रव्य में अनंत प्रदेश हैं अर्थात् आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं। उनमें से लोकाकाश में एक जीव के बराबर असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश में अनंत प्रदेश हैं। मूर्तिक पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात और अनंत ऐसे तीनों प्रकार के प्रदेश हैं। काल द्रव्य का एक प्रदेश होता है इसीलिए वह 'काय' नहीं कहलाता है। तात्पर्य यही है कि कालद्रव्य एकप्रदेशी होने से 'काय' नहीं है इसीलिए वह द्रव्य तो है किन्तु अस्तिकाय नहीं है। इस बात से यह शंका सहज ही हो जाती है कि पुद्गल का परमाणु भी 'एक प्रदेशी है' उसे भी 'काय' नहीं कहना चाहिए। उसी के समाधान में आचार्य कहते हैं—

एयपदेसो वि अणू, णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हू।।26।।

जो एकप्रदेशी भी अणु है, वह कारण बहु स्कंधों का।
उपचार विधी से कहलाता, वह बहुत प्रदेशी जो होगा।।
इसलिए काय संज्ञा अणु की, सर्वज्ञदेव बतलाते हैं।
पर कालद्रव्य में बहुप्रदेश, की शक्ती भी नहिं पाते हैं।।26।।

अणु—परमाणु यद्यपि एक प्रदेश वाला है फिर भी वह अनेक प्रदेशी स्कंधों का कारण है अर्थात् आगे द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि होकर अनेक प्रदेशी स्कंध बन सकता है इसीलिए वह अणु भी उपचार से बहुप्रदेशी माना जाता है अतः यह अणु भी 'काय' संज्ञक होने से अस्तिकाय है किन्तु काल द्रव्य कभी भी दो आदि बहुत प्रदेश वाला नहीं हो सकता है, यही कारण है कि वह 'अस्ति' तो है किन्तु 'काय' नहीं है।

3.4 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-अस्तिकाय द्रव्य कौन-कौन से कहलाते हैं ?

प्रश्न 3-जीव द्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में कितने प्रदेश होते हैं ?

पाठ-4 – द्रव्य की त्रयात्मकता का सिद्धांत (Principle of Three-Fold Activities of Realities)

4.1 जैन तत्त्वमीमांसा का आधारभूत सिद्धांत वस्तु की त्रयात्मकता है। वस्तु में उत्पाद-व्यय के साथ-साथ स्थायित्व भी बना हुआ है। कोई भी वस्तु सदा एक सी नहीं रहती और न ही पूर्णतः नष्ट होती है। परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती रहती है और अपने अस्तित्व को बनाये रखती है। वस्तु के इस त्रयात्मक स्वरूप को ही परिणामिनित्यता द्रव्यपर्यायात्मकता, नित्यानित्यात्मकता तथा सामान्य-विशेषात्मकता के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता के अनुसार विश्व का कोई भी तत्व सर्वथा नित्य नहीं है। सर्वथा अनित्य नहीं है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य-इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्वित है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन-शून्य नहीं होता और परिणमन ध्रुव शून्य नहीं होता इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप में उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय- ये दोनों परिणमन के आधार बनते हैं और ध्रौव्य-उनका अन्वयी सूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति में भी रहता है और व्यय की स्थिति में भी रहता है। वह दोनों को अपने साथ जोड़े हुए हैं। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार नहीं हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है, वह भी पहली बार नहीं हो रहा है। उससे पहले अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नहीं हुआ। ध्रौव्य उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता में कोई अंतर नहीं आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नहीं होती। कुछ दर्शन वस्तु के स्थिर अंश को पकड़ने वाले 'कूटस्थ नित्य' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते है। कुछ दर्शन समुद्र में होने वाली उर्मियों को पकड़ने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा में देखा, इसलिए उसने नित्यानित्यत्ववाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। तीर्थंकरों ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या नित्यानित्यवाद के आधार पर की। उनसे पूछा गया-आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होंने एक ही उत्तर दिया-अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा में वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

4.2 लोक व्यवस्था (Functioning of Universe) —

किसी भाव अर्थात् सत् का अत्यंत नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय करते रहते हैं। लोक में जितने सत् है वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्याओं में कभी भी हेर-फेर नहीं होता। उनकी गुण और पर्यायों में परिवर्तन अवश्यम्भावी है, उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। इस विश्व में अनंत चेतन, अनंत पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। इनसे यह लोक व्याप्त है। जितने आकाश देश में ये जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। लोक के बाहर भी आकाश है, वह अलोक कहलाता है। लोकगत आकाश और अलोकगत आकाश दोनों एक अखण्ड द्रव्य हैं। यह विश्व इन अनंतानंत 'सत्त्वों' का विराट आगार है और अकृत्रिम है। प्रत्येक 'सत्' अपने में परिपूर्ण, स्वतंत्र और मौलिक है।

सत् का लक्षण है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसकी यह पूर्व व्यय तथा उत्तरोत्पादकी धारा अनादि और अनंत है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होता है। चाहे चेतन हो या अचेतन, कोई भी सत् इस उत्पाद, व्यय के चक्र से बाहर नहीं है। यह उसका निज स्वभाव है। उसका मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिये और अपनी अविच्छिन्न धारा में असंकर भाव से अनाद्यनंत रूप में परिणत होते रहना चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश भी होते है और कभी विसदृश भी। ये कभी एक दूसरे के निमित्त से प्रभावित भी होते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन की परम्परा किसी समय

दीपनिर्वाण की तरह बुझ नहीं सकती। यही भाव 'भावस्सणत्थि णासो' पद द्वारा दिखाया गया है। कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाय, परिवर्तनों की अनंत संख्या होने पर भी वस्तु की सत्ता नष्ट नहीं होती। उसका मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता। अनंत प्रयत्न करने पर भी जगत के रंगमंच से एक भी अणु को विनष्ट नहीं किया जा सकता, उसकी हस्ती को नहीं मिटाया जा सकता। विज्ञान की तीव्रतम भेदक शक्ति अणु द्रव्य का भेद नहीं कर सकती। आज जिसे विज्ञान ने 'एटम' माना है और जिसके इलैक्ट्रान और प्रौट्रान रूप से भेदकर वह यह समझता है कि हमने अणु का भेद कर लिया, वस्तुतः व अणु न होकर सूक्ष्म स्कंध ही है और इसीलिए उसका भेद संभव हो सका है।

परमाणु का वही आदि, वही अंत तथा वही मध्य है। यह इंद्रियग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है-उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं।

समस्त स्कन्धों का जो अंतिम भेद है, वह परमाणु है। वह शाश्वत है, शब्दरहित है, एक है, सदा अविभागी है और मूर्तिक है। तात्पर्य यह कि परमाणु द्रव्य अखंड है और अविभागी है। उसको छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता। जहाँ तक छेदन-भेदन सम्भव है वह सूक्ष्म स्कन्ध का हो सकता है, परमाणु का नहीं। परमाणु की द्रव्यता और अखण्डता का सीधा अर्थ है उसका अविभागी एक सत्ता और मौलिक होना। वह छिंद-भिंद कर दो सत्तावाला नहीं बन सकता। यदि बनता है तो समझना चाहिए कि वह परमाणु नहीं हैं। ऐसे अनंत मौलिक अविभागी अणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। इन्हीं परमाणुओं के परस्पर संबंध से छोटे-बड़े स्कंधरूप अनेक अवस्थाएँ होती हैं।

4.3 परिणमनों के प्रकार (Types of Transformations) —

सत् के परिणमन दो प्रकार के होते हैं-एक स्वभावात्मक और दूसरा विभावरूप। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुद्रव्य ये सदा शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करते हैं। इनमें पूर्व पर्याय नष्ट होकर भी जो नयी उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है वह सदृश और स्वभावात्मक ही होती है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। प्रत्येक द्रव्य में एक 'अगुरुलघु' गुण या शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य की समतुला बनी रहती है, वह न तो गुरु होता है और न लघु। यह गुण द्रव्य की निजरूप में स्थिर मौलिकता कायम रखता है। इसी गुण में अनंतभाग वृद्धि आदि षड्गुणी हानि वृद्धि होती रहती है, जिसमें ये द्रव्य अपने ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव को धारण करते हैं और कभी अपने द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता। इनमें कभी भी विभाव या विलक्षण परिणमन नहीं होता और न कहने योग्य कोई ऐसा फर्क आता है, जिससे प्रथम क्षण के परिणमन से द्वितीय क्षण के परिणमन का भेद बताया जा सके।

परिणमन का कोई अपवाद नहीं (No Exception to Transformation) —

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनादि से अनंतकाल तक ये द्रव्य सदा एक जैसे समान परिणमन करते है, उनमें कभी भी कहीं भी किसी भी रूप में विसदृशता, विलक्षणता या असमानता नहीं आती तब उनमें परिणमन अर्थात् परिवर्तन कैसे कहा जाए? उनके परिणमन का क्या लेखा-जोखा हो? परन्तु जब लोक का प्रत्येक सत् सदा परिणामी है, कूटस्थ नित्य नहीं, सदा शाश्वत नहीं, तब सत् के इस अपरिहार्य और अनिवार्य नियम का आकाश आदि सत् कैसे उल्लंघन कर सकते हैं? उनका अस्तित्व ही त्रयात्मक अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। इसका अपवाद कोई भी सत् कभी भी नहीं हो सकता। भले ही उनका परिणमन हमारे शब्दों का या स्थूल ज्ञान का विषय न हो, पर इस परिणामित्व का अपवाद कोई भी सत् नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जब हम एक सत् पुद्गलपरमाणु में प्रतिक्षण परिवर्तन को उसके स्कन्धादि कार्यों द्वारा जानते हैं, सत्-आत्मा में ज्ञानादि गुणों के परिवर्तन को स्वयं अनुभव करते हैं तथा दृश्य विश्व में सत् की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशीलता प्रमाण सिद्ध है, तब लोक के किसी भी सत् को उत्पादादि से रहित होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। एक मृत्पिंड पिंडाकार को छोड़कर घट के आकार को धारण करता है तथा मिट्टी दोनों अवस्थाओं में अनुगत रहती हैं

वस्तु के स्वरूप को समझने का यह एक स्थूल दृष्टांत है। अतः जगत् का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतन हो या अचेतन, परिणामी नित्य है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है, वह प्रतिक्षण पर्यायान्तर को प्राप्त होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, ध्रुव है।

जीवद्रव्य में जो आत्माएँ कर्म बंधन को काट कर सिद्ध हो गई हैं उन मुक्त जीवों का भी सिद्धि के काल से अनंतकाल तक सदा शुद्ध ही परिणमन होता है। समान और एकरस परिणमन की धारा सदा चलती रहती है, उसमें कभी कोई विलक्षता नहीं आती। रह जाते हैं संसारी जीव और अनंत पुद्गल, जिनका रंगमंच यह दृश्य विश्व है। इनमें स्वाभाविक और वैभाविक दोनों परिणमन होते हैं। फर्क इतना है कि संसारी जीव के एक बार शुद्ध हो जाने के बाद फिर अशुद्धता नहीं आती, जब कि पुद्गलस्कंध अपनी शुद्ध दशा परमाणुरूपता में पहुँचकर भी फिर अशुद्ध हो जाते हैं। पुद्गल की शुद्ध अवस्था परमाणु है और अशुद्ध दशा स्कंध अवस्था है। पुद्गल द्रव्य स्कंध बनकर फिर परमाणु अवस्था में पहुँच जाते हैं और फिर परमाणु से स्कंध बन जाते हैं। **सारांश यह है कि संसारी जीव और अनंत पुद्गल परमाणु भी प्रतिक्षण अपने परिणामी स्वभाव के कारण एक दूसरे के तथा परस्पर निमित्त बनकर स्वप्रभावित परिणमन के भी जनक हो जाते हैं। एक हाइड्रोजन का स्कंध ऑक्सीजन के स्कंध से मिलकर जल पर्याय को प्राप्त हो जाता है। फिर गर्मी का सन्निधन पाकर भाप बनकर उड़ जाता है, फिर सर्दी पाकर पानी बन जाता है, और इस तरह अनंत प्रकार के परिवर्तन-चक्र में बाह्य आभ्यंतर सामग्री के अनुसार परिणत होता रहता है। यही हाल संसारी जीव का है। उसमें भी अपनी सामग्री के अनुसार गुण पर्यायों का परिणमन बराबर होता रहता है। कोई भी समय परिवर्तन से शून्य नहीं होता। इस परिवर्तन परम्परा में प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान कारण होता है तथा अन्य द्रव्य निमित्त कारण।**

4.4 नित्यैकांत-अनित्यैकांत का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि (Disapproval of Absolutism and Approval of Non-absolutism)—

सांख्य सभी पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि आत्मा जानने रूप क्रिया का भी कर्त्ता नहीं है। ज्ञान और सुख प्रकृति (जड़) के धर्म है, केवल आत्मा इनका भोक्ता अवश्य है। ये लोग कारण में कार्य को सदा विद्यमान रूप ही मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों में परिणमन दिख रहा है अतः वे सर्वथा नित्य नहीं हैं तथा ज्ञान और सुख ये आत्मा के ही स्वभाव हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादिरूप से जो स्वसंवेदन होता है वह ज्ञान के द्वारा ही होता है और वह अनुभव सर्वथा नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्वाकार को छोड़कर उत्तराकार को ग्रहण करती है और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वय संबंध पाया जाता है, इस अन्वय स्वभाव से वस्तु नित्य है तथा पूर्वाकार, उत्तराकार के त्याग और ग्रहणरूप से व्यय और उत्पाद स्वरूप भी है, अतः अनित्य भी है। जीव ने मनुष्य पर्याय को छोड़कर देव पर्याय ग्रहण की तथा दोनों अवस्थाओं में अन्वय रूप जीवात्मा विद्यमान है, ऐसा स्पष्ट है तथा मिट्टी से कुंभकार घट बनाता है, घट उसमें विद्यमान था कुंभार ने प्रगट कर दिया, यह कल्पना गलत है। हाँ, मिट्टी में घट शक्तिरूप से अवश्य है अर्थात् मिट्टी में घट बनने की शक्ति अवश्य है, कारक निमित्तों से प्रकट हो जाती है अतः आत्मा आदि पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं, पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं।

बौद्ध का कहना है कि सभी पदार्थ सर्वथा क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे हैं। उनमें जो कहीं स्थायित्व दिख रहा है वह सब वासना मात्र है तथा ये लोग कारण का जड़मूल से विनाश मानकर ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मानने पर तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सिद्ध नहीं होंगे, प्रातः अपने घर से निकलकर कोई भी व्यक्ति पुनः यह वही घर है, जिसमें मैं रहता हूँ, ऐसा स्मृतिपूर्वक प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकने से वापस नहीं आ सकेगा। पुनः सारे लोक व्यवहार समाप्त हो जावेंगे तथा मृत्पिंड के सभी परमाणु का सर्वथा नाश हो गया पुनः घट किससे बना ? यह प्रश्न होता रहेगा, कारण के विनाश के बाद कार्य की उत्पत्ति मानने से

तो मिट्टी से ही घट क्यों बने ? तंतु से घट और मृत्पिंड से वस्त्र भी बन जायेंगे, जौ के अंकुरों से चने पैदा होने लगेंगे, कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः कारण का कार्यरूप परिणत हो जाना ही कार्य है। तंतु ही वस्त्ररूप परिणत होते हैं, यही सिद्धांत सत्य है।

बौद्ध कहता है कि वस्तु सत् है, असत् है, उभय रूप है, अनुभय रूप है, ये चार विकल्प ही हो सकते हैं और ये चारों ही विकल्प अवाच्य हैं—कहे नहीं जा सकते अतः 'वस्तु अवाच्य है।' जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! 'वस्तु अवाच्य हैं' इस वाक्य से भी पुनः तुमने कैसे कहा, इस वाक्य से वाच्य कर देने से वह अवाच्य कहां रही, यह तो ऐसा है कि कोई मुँह से कहे कि 'मैं मौनव्रती हूँ' ऐसे ही बौद्ध की एक और मान्यता बहुत ही विचित्र है वह कहता है कि 'विनाश अहेतुक है' घड़े पर मुद्‍गर का प्रहार हुआ वह फूट गया, तो उसका कहना है कि मुद्‍गर के निमित्त से घड़ा नहीं फूटा है, प्रत्युत स्वभाव से ही फूटा है। हाँ, मुद्‍गर के निमित्त से कपाल टुकड़े अवश्य उत्पन्न हुए हैं। जैनाचार्य तो घड़े के फूटने में और कपाल के उत्पन्न होने में दोनों में ही एक मुद्‍गर को ही हेतु मानते हैं क्योंकि इन्होंने पूर्वाकार घट का विनाश और उत्तराकार कपाल का उत्पाद इन दोनों को एक हेतुक और एक समय में ही माना है। घट का फूटना ही तो कपाल का उत्पाद है।

बौद्ध ने तो कार्य को ही सहेतुक मान लिया है, किन्तु आजकल कुछ ऐसे भी लोग हैं जो विनाश और उत्पाद दोनों को ही अहेतुक कह देते हैं, उनका कहना है कि कार्य का उत्पाद होना था, तब निमित्त उपस्थित हो गया, वह सर्वथा अकिंचित्कर है, उस बेचारे ने क्या किया है ? ऐसा कहने वालों की दशा तो बौद्धों से भी अधिक शोचनीय है।

बौद्ध के सर्वथा क्षणिक मत में अपने किये हुए को नहीं भोगना और दूसरे के किए हुए का फल पाना ये दोष भी आ जाते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति की आत्मा ने हिंसा का भाव किया, वह उसी क्षण नष्ट हो गई, दूसरी आत्मा ने आकर हिंसा कर दी, वह भी नष्ट हो गई, तीसरी आत्मा को पाप का बंध हो गया, उसी क्षण वह भी नष्ट हो गया, चौथी आत्मा ने आकर उसका फल दुःख भोगा। अहो! यह सिद्धान्त बहुत ही हास्यास्पद है।

4.5 सप्तभंगी प्रक्रिया (The Theory of Seven-fold Predications)—

1. जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी पदार्थ **कथंचित् नित्य हैं**, क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से वे कभी नष्ट नहीं होते हैं।

2. सभी पदार्थ **कथंचित् अनित्य हैं,** क्योंकि पर्यायों का विनाश और उत्पाद देखा जाता है।

3. सभी पदार्थ **कथंचित् नित्य और अनित्य उभयरूप हैं**, क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की अपेक्षा है।

4. सभी पदार्थ **कथंचित् अवक्तव्य हैं,** क्योंकि एक साथ दोनों नयों की विवक्षा होने से दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते हैं।

5. सभी पदार्थ **कथंचित् नित्य और अवक्तव्य हैं,** क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक नय और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

6. सभी पदार्थ **कथंचित् अनित्य और अवक्तव्य इस छठे भंगरूप हैं,** क्योंकि क्रम से पर्यायार्थिक नय और युगपत् दोनों नयों की विवक्षा है।

7. सभी पदार्थ **कथंचित् नित्यानित्य और अवक्तव्य हैं,** क्योंकि क्रम से दोनों नय और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा है।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रक्रिया से सभी बातें व्यवस्थित हैं।

4.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-द्रव्य की त्रयात्मकता के सिद्धान्त को समझाइये ?

प्रश्न 2-सत् के परिणमन कितने प्रकार के हैं और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के सिद्धान्त को उदाहरण द्वारा समझाइये ?

इकाई – 4 गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा एवं गतिमार्गणा (*Gunsthanas, Jeev-Samaas, Prayapties, Pranas, Sangyas* and *Gati Margana*)

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) गुणस्थान

(2) जीव-समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा

(3) गति मार्गणा

(4) गतियों से आने-जाने के द्वार

पाठ-1 – गुणस्थान (Gunsthanas – Stages of Spiritual Development)

जिन विषयों का आश्रय लेकर जीव द्रव्य का प्ररूपण किया जाता हैं, वे प्ररूपणा कहलाती हैं। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार ये **बीस प्ररूपणा** पूर्वाचार्यों ने कही हैं।

इनमें से सर्वप्रथम गुणस्थान का विवेचन किया जा रहा है—

1.1 गुणस्थान का अर्थ (Meaning of Stage of Spiritual Development) —

गुण का अर्थ होता है 'आत्मिक गुण' तथा स्थान का अर्थ है विकास। इस प्रकार आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुण-स्थान कहते हैं। जीव के परिणाम सदा एक से नहीं रहते। उसके मोह एवं मन, वचन, काय की वृत्ति के कारण अंतरंग परिणामों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। गुणस्थान आत्म-परिणामों में होने वाले इन उतार-चढ़ावों का बोध कराता है। साधक कितना चल चुका है तथा कितना आगे और चलना है ? गुणस्थान इसे बताने वाले मार्ग सूचक पट्ट हैं। गुणस्थान जीव के मोह और निर्मोह दशा की भी व्याख्या करता है। यह संसार और मोक्ष के अन्तर को स्पष्ट करता है। गुणस्थानों के आधार पर जीवों के बंध और अबंध का भी पता चलता है। गुणस्थान आत्म-विकास का दिग्दर्शक है।

इसीलिए जैनागम में आत्मा की विकास-यात्रा को गुणस्थानों द्वारा अत्यंत सुन्दर ढंग से विवेचित किया गया है, जो कि न केवल साधक की विकास यात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण करता है, अपितु आत्मा की विकास यात्रा की पूर्व भूमिका से लेकर गंतव्य आदर्श तक की समुचित व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

मोह तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के भावों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ावों का बोध जिससे होता हैं, जैन आगम में उसे गुणस्थान कहते हैं। जीव के परिणाम (भाव) अनन्त हैं लेकिन मलिन परिणामों से लेकर विशुद्ध परिणामों अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर मोक्ष प्राप्त करने तक की अनन्त वृद्धियों के क्रम को बताने हेतु इन गुणस्थानों को 14 श्रेणियों में विभाजित किया गया हैं। ये ही 14 गुणस्थान कहलाते हैं। जैसे ज्वर से पीड़ित व्यक्ति का तापमान थर्मामीटर द्वारा नापा जाता है, उसी प्रकार आत्मा के आध्यात्मिक विकास या पतन की नाप इन गुणस्थानों के द्वारा की जाती है।

1.2 चौदह गुणस्थान के लक्षण (Characteristics of Fourteen stages of Spiritual Development) —

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान— मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को अर्थात् विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इस गुणस्थान वाले जीव को मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं। उसे सच्चा धर्म अच्छा नहीं लगता हैं। जैसे ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मधुर रस भी अच्छा नहीं लगता हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को सच्चा धर्म अच्छा नहीं

लगता हैं। निगोदिया जीव, एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सभी जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, अतः उनके प्रथम गुणस्थान ही होता हैं।

2. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के उदय में आ जाने पर उपशम सम्यक्त्व से पतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्व में नहीं आता, तब तक उसे सासादन सम्यग्दृष्टि जाना जाता है। इसकी अवधि बहुत छोटी (जघन्य 1 समय व उत्कृष्ट 6 आवली) होती हैं। जैसे—पहाड़ की चोटी से कोई व्यक्ति लुढ़के तो जब तक वह जमीन पर नहीं आ जाता तब तक न तो वह पहाड़ की चोटी पर रहता हैं और न ही जमीन पर रहता है। सम्यक्त्व चोटी के समान है और मिथ्यात्व धरा के समान है। इस गुणस्थान में आने के बाद जीव नियम से पहले गुणस्थान में पहुंच जाता है। फिर पुरुषार्थ करके वह ऊपर वाले गुणस्थानों में जा सकता है।

3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित भाव को सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे दही और गुड़ का मिश्रित स्वाद होता हैं। सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव का तत्त्व के विषय में श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों होना संभव हैं अतः इसे मिश्रभाव या मिश्रगुणस्थान भी कहते हैं। जैसे—पहिले से स्वीकृत देवी-देवताओं को त्यागे बिना, अरहन्त भी देव हैं ऐसी दृष्टि वाला मनुष्य ।

4. असंयत (अविरत) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव सम्यग्दृष्टि तो हैं लेकिन संयम नहीं पालता हैं, वह असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। जो हिंसा आदि पांच पापों का नियमानुसार त्यागी नहीं हैं अर्थात् जिसके व्रत नहीं हैं, उसे अविरत कहते हैं। जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान रखता है किन्तु संयम (व्रत आदि) से रहित हैं तथा इन्द्रियों के विषय आदि से विरत नहीं हुआ हैं, वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती हैं। इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता हैं।

दर्शनमोह के उपशम होने से सम्यग्दृष्टि है किन्तु चारित्रमोह के उदय से चारित्र ग्रहण नहीं कर पा रहा है अतः वह असंयत हैं।

5. संयतासंयत (देशविरत) गुणस्थान—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानपूर्वक व्रत, समिति आदि रूप चारित्र का पालन करना संयम है और इस संयम को धारण करने वाला मुनि संयत है। इस प्रकार संयत से अभिप्राय संयमी से हैं। महाव्रती श्रमण संयत कहलाता हैं। जो संयत भी हो और असंयत भी हो, वह संयतासंयत कहलाता है। अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषाय के अनुदय होने से सम्यक्त्व सहित अणुव्रत के धारक जीव (व्रती, श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक) संयतासंयत कहलाते हैं। जो हिंसा आदि पांच पापों का स्थूल रूप से त्याग करने वाला हैं, वह संयतासंयत हैं। वह जिनेन्द्र भगवान में श्रद्धान रखता हैं और त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी भी है, अतः संयमी है किन्तु वह स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता है अतः वह असंयमी भी है। अतः वह इस पांचवें गुणस्थान में आता है। आर्यिकाओं के भी उपचार महाव्रत होने से उनका पांचवां गुणस्थान होता है।

6. प्रमत्त—संयत (प्रमत्त-विरत) गुणस्थान—प्रमत्त का अर्थ होता है प्रमादी। जो साधु मात्र संज्वलन कषाय के उदय से सहित होता हुआ रत्नत्रय का पालन करता हैं किन्तु व्यक्त या अव्यक्त प्रमाद सहित भी होता है, वह प्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती है। इसमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषायों का अभाव होता है और केवल संज्वलन कषाय रहती है।

7. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान—जिन मुनियों के सभी प्रकार के प्रमादों से रहित संयम भाव रहता है और रत्नत्रय से युक्त हैं, वे अप्रमत्त संयत गुणस्थान वाले कहलाते हैं। इसमें संज्वलन कषाय मंद रहती हैं।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान—अपूर्व का अर्थ होता है जो पूर्व में नहीं हुआ हो और करण का अर्थ होता है परिणाम। इस गुणस्थान में न तो किसी कर्म का सम्पूर्ण उपशम होता है और न सम्पूर्ण क्षय होता है किन्तु उसके लिये तैयारी होती है।

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके जो भी उपशम या क्षपक-श्रेणी चढ़ते हैं, उन जीवों के अपूर्व परिणाम होते हैं, वह अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान है। इसमें संज्वलन कषाय अत्यन्त मंद रहती है।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—जिस गुणस्थान में विवक्षित किसी एक समय में विद्यमान सब जीवों के परिणाम परस्पर समान होते हैं, वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। अपूर्वकरण गुणस्थान में तो सभी जीवों के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं, मगर इस नवमें गुणस्थान में समान ही होते हैं। इस गुणस्थान में 36 प्रकृतियों का उपशम या क्षय होता हैं। ध्यान की एकाग्रता बढ़ती जाती है और इसमें केवल संज्वलन लोभ कषाय शेष रहती है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान—सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं, जहां मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय रह जाता है। जब ध्यानस्थ मुनि मात्र सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करता है, वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान है।

उपशम श्रेणी वाला इस गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है। क्षपक श्रेणी वाला मोह का सर्वथा नाश करके दसवें से बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है।

11. उपशांतमोह (उपशांत कषाय) गुणस्थान—सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले साधु के उपशांत मोह गुणस्थान होता हैं। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर मोहनीय कर्म उदय में आ जाता है, जिससे जीव नीचे के गुणस्थानों में गिरता है। जो इस ग्यारहवें गुणस्थान में आता है, उसका पतन निश्चित है। जैसे किसी बर्तन की भाप को यदि दबा दिया जाता हैं तो वह वेग पाकर ढक्कन को गिरा देती है।

12. क्षीणकषाय (क्षीण मोह) गुणस्थान—जिनके समस्त मोहनीय कर्म क्षीण (नष्ट) हो गया है, उन्हें क्षीण कषाय कहते हैं। दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले साधक सीधे इस गुणस्थान में आते हैं। इस गुणस्थान के अन्त में घातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय) का क्षय होता है। इस गुणस्थान वाले का पतन नहीं होता हैं और वह ऊपर के गुणस्थानों में ही चढ़ता है।

13. सयोगकेवली गुणस्थान—चार घातिया कर्मों का नाश करने पर जीव को केवलज्ञान हो जाता है और वह केवली कहलाता है। जब तक केवली योग (विहार, उपदेश आदि क्रियाएँ) सहित होते हैं, वे सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

14. अयोगकेवली गुणस्थान—सभी कर्मों से रहित अवस्था को अयोगकेवली कहते हैं। जब केवली भगवान अपने अंतिम समय में विहार, उपदेश क्रियाएँ छोड़कर ध्यानस्थ हो जाते हैं और अपने शेष 4 अघातिया कर्मों की बची हुई प्रकृतियों का क्षय करते हैं, उनके अयोगकेवली गुणस्थान होता हैं। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में लगने वाला समय मात्र है। इसके उपरान्त वे सर्वथा कर्म रहित हो जाते हैं और मोक्ष लाभ प्राप्त करके लोक के शिखर पर स्थित सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाते हैं, इन्हें ही सिद्ध कहते हैं।

1.3 गुणस्थान के निमित्त (Causes of Stages of Spiritual Development)—

मोह और योग के निमित्त से ये गुणस्थान होते हैं —

(1) प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के निमित्त से होते हैं।

(2) पांचवें से बारहवें गुणस्थान चारित्रमोहनीय कर्म के निमित्त से होते हैं।

(3) तेरहवां व चौदहवां गुणस्थान योग के निमित्त से होते हैं।

कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है। यह जीव को सच्चे मार्ग (आत्मस्वरूप) का न तो भान होने देता हैं और न उस मार्ग पर चलने देता है परन्तु आत्मा से ज्यों ही मोह का पर्दा हटने लगता है त्यों ही उसके गुण विकसित होने लगते हैं अतः इन गुणस्थानों की रचना में मोह के चढ़ाव/उतार का ही ज्यादा हाथ होता है।

विशेष—

(1) सभी संसारी जीवों के कोई न कोई गुणस्थान होता हैं। मोह व योग के अभाव के कारण मुक्त जीव के

गुणस्थान नहीं होता हैं।

(2) एक समय में जीव के एक गुणस्थान ही होता है।

(3) प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक असंयत हैं। शेष सभी में सम्यक्दर्शन व चारित्र पाया जाता है।

(4) आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका व प्रतिमाधारी व्रतियों के पांचवाँ गुणस्थान होता हैं।

(5) मुनियों के 6 से 12 तक गुणस्थान होते हैं। वर्तमान पंचमकाल में मुनि हीन-संहनन के कारण सातवें से आगे के गुणस्थानों में नहीं जा सकते हैं और वे भावों में परिवर्तन के साथ-साथ छठे तथा सातवें गुणस्थानों में घड़ी के पैण्डूलम की भांति चढ़ते-उतरते रहते हैं।

(6) देवगति व नरकगति में प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं। तिर्यंचगति में प्रथम से पंचम गुणस्थान तक होते हैं। मनुष्यगति में प्रथम से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। सिद्धगति में गुणस्थान नहीं होते हैं।

(7) बहिरात्मा के 1, 2, 3 गुणस्थान होते हैं। अन्तरात्मा के 4 से 12 (जघन्य के 4, मध्यम के 5-6 व उत्तम के 7 से 12) गुणस्थान होते हैं। परमात्मा के 13-14 (सकल परमात्मा के 13वाँ व निकल परमात्मा के 14वाँ) गुणस्थान होते हैं।

(8) मोहनीय कर्म के नाश हो जाने पर 12 वां गुणस्थान प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म के चले जाने के कारण शेष कर्मों की शक्ति भी क्षीण हो जाती है अतः बारहवें गुणस्थान के अंत में मुनि शेष 3 घातिया (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय) कर्मों का नाश करके केवली हो जाते हैं जो तेरहवां गुणस्थान है।

1.4 गुणस्थानों में जीवों की संख्या (Number of *Jeevas* in Different Gunsthanas)—

अढ़ाई द्वीप में विभिन्न गुणस्थानों में जीवों की उत्कृष्ट संख्या निम्न प्रकार है—

क्र.	गुणस्थान	उपशम श्रेणी	क्षपक श्रेणी	कुल
1.	प्रथम	-	-	अनन्तानन्त
2.	द्वितीय	-	-	असंख्य
3.	तृतीय	-	-	असंख्य
4.	चतुर्थ	-	-	असंख्य
5.	पंचम	-	-	असंख्य
6.	छठवें	-	-	5,93,98,206
7.	सातवें	-	-	2,96,99,103
8.	आठवें	299	598	897
9.	नवें	299	598	897
10.	दसवें	299	598	897
11.	ग्यारहवें	299	-	299
12.	बारहवें	-	598	598
13.	तेरहवें	-	-	8,98,502
14.	चौदहवें	-	-	598
			योग	8,99,99,997

एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तथा लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्च्छन जीवों का प्रथम गुणस्थान होता है। ये अपने जीवन में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इनकी संख्या अनन्तानन्त है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम गुणस्थानों में जीवों की संख्या असंख्यात है जिनमें मनुष्यों की संख्या क्रमशः 52 करोड़, 104 करोड़, 700 करोड़ और 13 करोड़ है तथा शेष अन्य गतियों के जीव हैं। संयमी जीवों के छठे से चौदहवां गुणस्थान होता है और इनमें जीवों की अधिकतम संख्याओं का कुल योग 3 कम 9 करोड़ कहा गया है। ये अढ़ाई द्वीप में ही होते हैं। ये मुनिराज भावलिंगी होते हैं। द्रव्यलिंगी मुनिराज 1, 2, 3, 4 और 5 वें गुणस्थान में होते हैं।

1.5 उपशम/क्षपक श्रेणी (Subsidential Ladder/Destructional Ladder) —

जहां मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए जीव आगे बढ़ता है, वह उपशम श्रेणी है। इसमें मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम किया जाता है। इसमें 8, 9, 10 तथा 11 वाँ गुणस्थान होते हैं। उपशम श्रेणी चढ़ने वाला जीव नियम से नीचे उतरता है।

जहां मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ जीव आगे बढ़ता है, वह क्षपक श्रेणी है। इसमें मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय किया जाता है। इस श्रेणी में 8, 9, 10 तथा 12 वाँ ये 4 गुणस्थान होते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। इस श्रेणी वाले जीव का नीचे की ओर पतन नहीं होता है और मरण भी नहीं होता है। उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों से क्षपक श्रेणी वाले जीवों की संख्या दुगुनी होती है। इस पंचम काल में वर्तमान में ये दोनों श्रेणी नहीं होती हैं अर्थात् मुनि आठवें या आगे के गुणस्थानों में नहीं चढ़ सकते हैं।

1.6 गुणस्थानों में चढ़ना/उतरना (Upward/Downward Movement in Gunsthanas) —

जैसे-जैसे कर्म छूटते जाते हैं, गुणस्थानों में वृद्धि होती जाती है और नीचे के गुणस्थान वाला ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है। भावों की विशुद्धि घटने पर ऊपर के गुणस्थानों वाला नीचे के गुणस्थानों पर उतरता है। इस प्रकार उतार-चढ़ाव का यह क्रम चलता ही रहता है। जब जीव 12 वें गुणस्थान में पहुँच जाता है तो वह नीचे नहीं उतरता है और क्रमशः 13 वें और 14 वें गुणस्थान में चढ़ता है। इसके पश्चात् शेष चारों अघातिया कर्मों का नाश करके गुणस्थानातीत अवस्था मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

1.7 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) —

प्रश्न 1-प्ररूपणा किसे कहते हैं ? प्ररूपणाओं के नामों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-गुणस्थान किसे कहते हैं ? इनके प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3-संयतासंयत (देशविरत) गुणस्थान का क्या लक्षण हैं ?

प्रश्न 4-क्षपकश्रेणी में कौन-कौन से गुणस्थान माने जाते हैं ?

पाठ-2 – जीव-समास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा (*Jeev-Samaas, Paryapti, Prana, Sangya*)

2.1 जीव-समास (Taxonomy, Classifications of The Living-beings) —

अनन्तानन्त जीव व उनके भेद-प्रभेदों का जिसमें संग्रह किया जाए उन्हें जीव-समास कहते हैं। समस्त जीवों को संक्षेप में बताने की विधि ही जीव-समास है।

इन्द्रियों के आधार पर जीव पांच प्रकार के होते हैं। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म व बादर दो प्रकार के और पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी व असंज्ञी दो प्रकार के होने से कुल भेद सात होते हैं। इन सातों में पर्याप्त और अपर्याप्त भेदों की अपेक्षा से कुल 14 भेद हो जाते हैं। ये ही 14 जीव-समास प्रसिद्ध हैं। इनके नाम निम्न हैं—

1. एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त
2. एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त
3. एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त
4. एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त
5. द्वीन्द्रिय पर्याप्त
6. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त
7. त्रीन्द्रिय पर्याप्त
8. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त
9. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त
10. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त
11. पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त
12. पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्त
13. पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त
14. पंचेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त

2.2 पर्याप्ति (Completions) —

जन्म के समय पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर जीवन धारण में उपयोगी विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

पर्याप्तियों के छः भेद—

(1) आहार पर्याप्ति—शरीर निर्माण योग्य नो-कर्म वर्गणाओं को ग्रहण कर उनको खल व रस रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(2) शरीर पर्याप्ति—आहार पर्याप्ति के द्वारा किये गये खल भाग को हड्डी आदि कठोर अवयवरूप और रस भाग को रक्त आदि तरल रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(3) इन्द्रिय पर्याप्ति—शरीर निर्माण में यथा-स्थान और यथा-आकार इन्द्रियों को बनाने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(4) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति—श्वासोच्छ्वास के द्वारा वायु के ग्रहण और उत्सर्जन के योग्य पुद्गल परमाणुओं की प्राप्ति और तदनुरूप शक्ति की प्राप्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(5) भाषा पर्याप्ति—भाषा वर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करने और तालू, ओंठ के द्वारा इच्छानुसार भाषा रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को भाषा पर्याप्ति कहते हैं।

(6) मन पर्याप्ति—मनो-वर्गणाओं के ग्रहण द्वारा द्रव्य-मन के निर्माण करने की तथा द्रव्य-मन के निमित्त से चिन्तन, स्मरण आदि करने रूप भाव-मन की शक्ति की पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते हैं।

कौन सी इन्द्रियों में कितनी पर्याप्तियां—

एक इन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वांस) होती हैं। विकलत्रय और असंज्ञी-पंचेन्द्रिय के मन नहीं होता है, अतः उनके 5 पर्याप्तियां होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय (देव, नारकी, मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच) के सभी 6 पर्याप्तियां होती हैं। एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण करने वाले जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है।

विग्रह गति में पर्याप्ति शुरू ही नहीं होती है।

जिस जीव की जितनी पर्याप्तियां होती हैं, वे सभी एक साथ प्रारम्भ होकर क्रमशः पूर्ण होती हैं अर्थात् सर्वप्रथम आहार, तत्पश्चात् शरीर और उसके बाद शेष पर्याप्तियां क्रमशः पूर्ण होती हैं। प्रत्येक पर्याप्ति की पूर्णता में अन्तर्मुहूर्त काल लगता है और समस्त छः पर्याप्तियों की पूर्णता में भी कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

पर्याप्तियों के आधार पर जीव के भेद—

(1) पर्याप्तक जीव— जिन जीवों के पर्याप्त नामकर्म का उदय हो और जिनकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो चुकी है (भले ही अभी इन्द्रिय आदि चार पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हों) वे पर्याप्तक जीव कहलाते हैं।

निर्वृत्यपर्याप्तक जीव— जिनके पर्याप्त नामकर्म का उदय हो और जिन्होंने जन्म भी ले लिया है, ऐसे जीवों की जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक वे निर्वृत्यपर्याप्तक (अथवा निर्वृत्ति-अपर्याप्तक) जीव कहलाते हैं।

(2) अपर्याप्तक जीव— अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से जिन जीवों की एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, उन्हें अपर्याप्तक जीव कहते हैं।

लब्धि-अपर्याप्तक या लब्ध्यपर्याप्तक जीव— अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य एक भी पर्याप्ति पूर्ण न करके श्वांस के 18 वें भाग (1/24 सेकेण्ड) में मरण को प्राप्त हो जाता है, उसे लब्धि-अपर्याप्तक या लब्ध्यपर्याप्तक जीव कहते हैं।

2.3 प्राण (Vitalities)—

प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति। जिसके द्वारा प्रत्येक जीव जीता है, उसे प्राण कहते हैं। प्राणों के संयोग-वियोग से ही प्राणी का जीवन-मरण होता है। प्राण दो प्रकार का होता है-

1. भाव (निश्चय) प्राण— जीव की चेतनत्व शक्ति (ज्ञान-दर्शन) भाव प्राण है। इसे निश्चय प्राण भी कहते हैं।

2. द्रव्य (व्यवहार) प्राण— यह मूलतः चार प्रकार का होता है- इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण। इनके उत्तर भेद क्रमशः 5, 3, 1 और 1 हैं। इन्हें व्यवहार प्राण भी कहते हैं। ये दस प्रकार के प्राण निम्नानुसार हैं—

1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण	2. रसना इन्द्रिय प्राण
3. घ्राण इन्द्रिय प्राण	4. चक्षु इन्द्रिय प्राण
5. श्रोत्र इन्द्रिय प्राण	6. मनोबल प्राण
7. वचन बल प्राण	8. काय बल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास प्राण	10. आयु प्राण

पंचेन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की चेतना शक्ति को **इन्द्रिय प्राण** कहते हैं।

मन, वचन और काय के द्वारा प्रवृत्ति करने की चेतना शक्ति को **बल प्राण** कहते हैं।

श्वास-प्रश्वास को ग्रहण करने और छोड़ने की चेतना शक्ति को **श्वासोच्छ्वास प्राण** कहते हैं।

जिसके उदय से जीवन और क्षय से मरण हो, वह **आयु प्राण** है।

2.4 जीवों में प्राणों की संख्या (Number of Vitalities *(Pranas)* in Living-beings)—

भाव (निश्चय) प्राण तो सभी जीवों (संसारी व मुक्त) में होता है किन्तु द्रव्य (व्यवहार) प्राण केवल संसारी जीवों के ही होता है अर्थात् मुक्त जीवों के द्रव्य प्राण नहीं होता है। जीवों में प्राणों की संख्या अलग-अलग होती है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी इन्द्रियों की क्षमता के अनुसार प्राण धारण करता है।

(क) पर्याप्तक जीवों में प्राणों की संख्या— पर्याप्तक जीवों में प्राणों की संख्या निम्नानुसार होती है:—

1. एकेन्द्रिय जीवों में — 4 प्राण
2. द्वीन्द्रिय जीवों में — 6 प्राण
3. त्रीन्द्रिय जीवों में — 7 प्राण
4. चतुरिन्द्रिय जीवों में — 8 प्राण
5. पंचेन्द्रिय जीवों में — असंज्ञी में 9 प्राण
— संज्ञी में 10 प्राण

(ख) अपर्याप्तक जीवों में प्राणों की संख्या—पर्याप्तक जीवों के जितने प्राण ऊपर बताये गये हैं, उनमें से मनोबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास प्राण अपर्याप्तक जीवों के नहीं होते हैं क्योंकि उनकी पर्याप्तियां अधूरी होती हैं। इस प्रकार एक, दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के क्रमशः कुल 3, 4, 5, 6 और 7 प्राण होते हैं।

(ग) केवली के प्राणों की संख्या—सयोग केवली के वचन बल, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। अयोगकेवली के मात्र आयु प्राण होता है। दण्ड समुद्घात की स्थिति में केवली के तीन प्राण (श्वासोच्छ्वास, आयु व कायबल) तथा कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात की स्थिति में दो प्राण (आयु व कायबल) होते हैं।

(घ) सिद्धों के प्राणों की संख्या—सिद्धों के द्रव्य प्राण अर्थात् उक्त दसों प्राण नहीं होते हैं। (मात्र निश्चय प्राण होता है।)

कम प्राण वाले जीवों की हिंसा में कम पाप और अधिक प्राण वाले जीवों की हिंसा में अधिक पाप लगता है। फिर भी संकल्पपूर्वक किसी भी जीव की हिंसा करने में अधिक पाप लगता है।

प्राण व पर्याप्ति में अन्तर—

इन्द्रिय आदि रूप की शक्ति की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं और जिनके द्वारा आत्मा जीव-संज्ञा को प्राप्त होता है उसे प्राण कहते हैं। इस प्रकार पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है।

2.5 संज्ञा (Instincts)-

आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव तक सभी संसारी जीवों में आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह के प्रति अभिलाषा पाई जाती है, यही संज्ञा है। यह जीवों की एक विशेष प्रकार की वृत्ति है।

संज्ञा के भेद—संज्ञा के निम्न चार भेद हैं—

1. आहार संज्ञा—विशिष्ट अन्न आदि आहार की इच्छा होना।

2. भय संज्ञा—भय से उत्पन्न स्थिति में होने वाली घबराहट—भागकर छिप जाने की इच्छा होना आदि।

3. मैथुन संज्ञा—वासना की तृप्ति हेतु मैथुन रूप क्रियाओं की इच्छा होना।

4. परिग्रह संज्ञा—धन-धान्य आदि के अर्जन और संग्रहण की इच्छा होना।

उपरोक्त चारों प्रकार की संज्ञाएं क्रमशः छठे, आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं। संसारी जीव इन चार प्रकार की संज्ञाओं से संक्लेशित होकर अनादिकाल से दुःख उठा रहा है। हमें इन संज्ञाओं को यथासम्भव घटाने का प्रयास करना चाहिए।

2.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-जीवसमास का अर्थ बताइये ? और इनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-पर्याप्ति किसे कहते हैं ? पर्याप्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 3-प्राण का अर्थ बताइये ? चार इन्द्रिय जीवों के कितने प्राण होते हैं ?

प्रश्न 4-प्राण के कुल प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?

पाठ-3 — गति मार्गणा (Gati Margana, Investigation in Destinities)

मार्गणा का अर्थ खोजना या अन्वेषण करना है। जिन भावों के द्वारा जीव खोजे जाते हैं या जिन पर्यायों में जीव खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। ये मार्गणा गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक मार्गणा ये भेद रूप 14 प्रकार की होती हैं। ये 14 मार्गणाएं जीव के एक साथ पाई जाती हैं।

3.1 गति मार्गणा (*Gati-Margana*) —

जीव के चारों गतियों में गमन के कारण को गति कहते हैं। गतियों में जीवों की खोज गति मार्गणा है। गतियाँ चार होती हैं- नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्य।

गति का अर्थ सामान्य भाषा में गमन होता है। छः द्रव्यों में से जीव तथा पुद्गल ही गमन करने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त जीव की अवस्था विशेष को भी गति कहते हैं अथवा जो एक पर्याय से दूसरी पर्याय में ले जावे वह गति है। नाम कर्म के उदय से जीव जिस पर्याय में रुक जाता है, वह गति है। जीव का जन्म उसके द्वारा किये गये पाप-पुण्य के अनुसार विभिन्न गतियों में होता है। जीव जब तक संसार में है, वह चारों गतियों की 84 लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। संसारी जीव की उपरोक्त चार गतियाँ ही प्रसिद्ध हैं। जब जीव सभी कर्मों का नाश कर देता है तो वह मुक्त जीव कहलाता है और वह सिद्धालय में विराजमान हो जाता है। मुक्त जीव किसी भी गति का जीव नहीं है। जीव की इस अवस्था को सिद्ध गति (अथवा पंचम गति) भी कहते हैं।

गतियों के भेद—

जीवों की 4 गतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है—

3.2 नरक गति (Infernal Destinity) —

ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
अण्णोण्णेहिं य जम्हा, तम्हा ते णारया भणिया।।

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः।।

अर्थ—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते उनको नारत (नारकी) कहते हैं।

भावार्थ—शरीर और इंद्रियों के विषयों में उत्पत्ति, शयन, विहार, उठने, बैठने आदि के स्थान में, भोजन आदि के समय में अथवा और भी अनेक अवस्थाओं में जो स्वयं अथवा परस्पर में प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं। इस गाथा में जो 'च' शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्ति सिद्ध अर्थ समझना चाहिए अर्थात् जो नरकगति नामकर्म के उदय से हों उनको अथवा नरान्—मनुष्यों को कायन्ति—क्लेश पहुँचावें उनको नारक कहते हैं क्योंकि नीचे सातों ही भूमियों में रहने वाले नारकी निरंतर ही स्वाभाविक, शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पाँच प्रकार के दुःखों से दुखी रहते हैं।

नरक गति के दुःख (Troubles of Infernal Destinity) —

यहां पर जीवों को सर्दी, गर्मी, गंदगी आदि की असहनीय वेदना सहनी पड़ती है। ये दुर्गन्धमय मिट्टी खाते हैं। यहां पर जीव को अत्यधिक भूख-प्यास लगती है जो सारे संसार का अन्न, मिट्टी, पत्थर आदि खाने से और समस्त समुद्रों का जल पीने से भी नहीं मिट सकती है। मगर भूख व प्यास की वेदना सहते हुए उन्हें वहाँ भूखे-प्यासे ही रहना पड़ता है। नरक की भूमि छूने पर जीव को इतनी अधिक वेदना होती है जितनी 1000 बिच्छुओं के काटने से भी नहीं होती है। यहां घोर अन्धकार रहता है और नारकी अन्धेरे में उल्लू की भांति देखते हैं। यहां पर सदैव मार-काट होती रहती है जिससे जीव सदा भयभीत व दुःखी रहता है। सुख लेशमात्र भी यहां पर नहीं है। यहां पर असीम दुःख सहन करने पड़ते हैं। जैसे करोंत

से चीरने, भाले से छेदने आदि। शरीर के तिल-तिल टुकड़े हो जाने पर वह पारे की तरह पुनः जुड़ जाता है। यहां जीवों की आयु बहुत लम्बी होती है और पूरी करनी ही पड़ती है क्योंकि इनका अकाल मरण नहीं होने के कारण इनकी आयु घट नहीं सकती है। यहां जीव अपने पाप-कर्मों के फल हाय-हाय करके भोगता है।

जो जीव मिथ्यादृष्टि होता है, धर्म के विरुद्ध आचरण करता है, हिंसा, चोरी आदि पापों में व्यस्त रहता है, बहुत आरम्भ या परिग्रह करता है, अशुभ लेश्या से युक्त होता है, वह नरक का पात्र होता है।

3.3 तिर्यंच गति (Sub-human Destiny)—

तिरियंति कुडिलभावं, सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा।
अच्चंतपावबहुला, तम्हा तेरिच्छया भणिया।।

तिरोचन्ति कुटिलभावं सुविबृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः।
अत्यन्तपापबहुलास्तस्मा त्तैरश्चका भणिताः।।

अर्थ—जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त हों अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्यों को अच्छी तरह प्रकट हो और जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं।

भावार्थ—जिनमें कुटिलता की प्रधानता हो, क्योंकि प्रायः करके सब ही तिर्यंच जो उनके मन में होता है उसको वचन के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि उनके उस प्रकार की वचन शक्ति ही नहीं है और जो वचन से कहते हैं उसको काय से नहीं करते तथा जिनकी आहारादि संज्ञा प्रकट हो और श्रुत का अभ्यास तथा शुभोपयोगादि के न कर सकने से जिनमें अत्यंत अज्ञानता पाई जाए तथा मनुष्य की तरह महाव्रतादिक को धारण न कर सकने और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि आदि के न हो सकने से जिनमें अत्यंत पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि निरुक्ति के अनुसार तिर्यंच गति का अर्थ माया की प्रधानता को बताता है। यथा—तिरः तिर्यग्भावं—कुटिलपरिणामं अंचन्ति इति तिर्यंचः। माया प्रधान परिणामों से संचित कर्म के उदय से यह गति—पर्याय प्राप्त होती है। यहाँ पर जो पर्यायाश्रित भाव हुआ करते हैं वे भी मुख्यतया कुटिलता को ही सूचित करते हैं। उनकी भाषा अव्यक्त होने से वे अपने मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ रहा करते हैं। प्रायः मैथुन संज्ञा आदि मनुष्यों की तरह उनकी गूढ़ नहीं हुआ करती। मनुष्यों के समान इनमें विवेक, हेयोपादेय का भेद ज्ञान, श्रुताभ्यास, शुभोपयोग आदि भी नहीं पाया जाता। प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदि की अपेक्षा से भी वे मनुष्यों से निकृष्ट हैं। महाव्रतादि गुणों को वे धारण नहीं कर सकते। इस गति में जिनका प्रमाण सबसे अधिक है उन एकेन्द्रिय जीवों में तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों में भी जिससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है ऐसी विशुद्धि नहीं पाई जाती अतएव यह पर्याय अत्यन्त पाप बहुल है। सारांश यह है कि जिसके होने पर यह भाव हुआ करते या पाये जाते हैं जीव की उस द्रव्यपर्याय को ही तिर्यग्गति कहते हैं। मनुष्यों की अपेक्षा यह निकृष्ट पर्याय है, ऐसा समझना चाहिए।

3.4 मनुष्य गति (Human Destiny)—

मण्णंति जदो णिच्चं, मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मण्णुब्भवा य सव्वे, तम्हा ते माणुसा भणिदा।।

मन्यन्ते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात्।
मनूभद्वाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः।।

अर्थ—जो नित्य ही हेय-उपादेय, तत्व-अतत्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करें और जो मन के द्वारा गुण दोषादि का विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मन के विषय में उत्कृष्ट हों, शिल्पकला आदि में भी कुशल हों तथा युग की आदि में जो मनुओं से उत्पन्न हों उनको मनुष्य कहते हैं।

यहाँ भावार्थ यह है कि मन का विषय तीव्र होने से गुण दोषादि, विचार, स्मरण आदि जिनमें उत्कृष्ट रूप से पाया जाय, अवधानादि करने में जिनका उपयोग दृढ़ हो तथा कर्मभूमि की आदि में आदीश्वर भगवान् तथा कुलकरों ने जिनको व्यवहार का उपदेश दिया इसलिए जो उन्हीं की—मनुओं की संतान कहे या माने जाते हैं उनको मनुष्य कहते हैं क्योंकि अवबोधनार्थक मनु धातु से मनु शब्द बनता है और जो मनु की संतान हैं उनको कहते हैं मनुष्य। अतएव इस शब्द का यहाँ पर जो अर्थ किया गया है वह निरुक्ति के अनुसार है। लक्षण की अपेक्षा से अल्पारम्भ परिग्रह के परिणामों द्वारा संचित मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जो ढाई द्वीप के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले हैं उनको कहते हैं मनुष्य। ये ज्ञान विज्ञान मन पवित्र संस्कार आदि की अपेक्षा अन्य जीवों से उत्कृष्ट हुआ करते हैं। जैसा कि निरुक्ति के द्वारा बताया गया है।

इस गाथा में एक 'यत:' शब्द है और दूसरा 'यस्मात्' शब्द है। अर्थ दोनों शब्दों का एक ही होता है। अतएव इनमें एक शब्द व्यर्थ पड़ता है। वह व्यर्थ पड़कर विशिष्ट अर्थ का ज्ञापन करता है कि यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में यह विशेष स्वरूप—निरुक्त्यर्थ घटित नहीं होता फिर भी उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयु के उदय रूप लक्षण मात्र की अपेक्षा से मनुष्य कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

3.5 देव गति (Celestial Destinity)—

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं।
भासंतदिव्वकाया, तम्हा ते वण्णिया देवा।।

दीव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः।।

अर्थ—जो देवगति में होने वाले या पाये जाने वाले परिणामों—परिणमनों से सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहत (निर्बाध) रूप से विहार करते हैं और जिनका रूप लावण्य, यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागम में देव कहा है।

भावार्थ यह है कि देव शब्द दिव् धातु से बनता है जिसके कि क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोह, मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतएव निरुक्ति के अनुसार जो मनुष्यों में न पाये जा सकने वाले प्रभाव से युक्त हैं तथा कुलाचलों पर वनों में या महासमुद्रों में सपरिवार विहार—क्रीड़ा किया करते हैं, बलवानों को भी जीतने का भाव रखते हैं, पंचपरमेष्ठियों या अकृत्रिम चैत्य, चैत्यालयों आदि की स्तुति वंदना किया करते हैं, सदा पंचेन्द्रियों से संबंधित विषयों के भोगों से उद्यत करते हैं, जो विशिष्ट दीप्ति के धारण करने वाले हैं, जिनका शरीर धातुमल दोष रहित एवं अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त सदा यौवन अवस्था में रहा करता है और जो अणिमा आदि आठ प्रकार की ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं उनको देव कहते हैं। यह देवपर्याय के स्वरूप मात्र का निदर्शन है। लक्षण के अनुसार जो अपने कारणों से संचित देवायु और देवगति नाम कर्म के उदय से प्राप्त पर्याय को धारण करने वाले संसारी जीव हैं वे सब देव हैं।

इस गति में जीव पंचेन्द्रिय और संज्ञी ही होते हैं। ये सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। शुभ कार्य (तप, दान, पूजा, उपवास आदि) करने से यह गति मिलती है।

देवों से अभिप्राय देव गति में उत्पन्न जीवों से ही है और जैन धर्म में मान्य जिनेन्द्र देव (वीतरागी और सर्वज्ञ) से ये सर्वथा भिन्न हैं।

जैन-साधु देवताओं से आहार नहीं लेते हैं क्योंकि देव संयम धारण करने में असमर्थ होते हैं।

देवों के चार भेद—देवों के चार निकाय (समूह) निम्न हैं-

3.6 भवनवासी देव (*Bhawanvasi Devas*)—

भवन से अभिप्राय निवास स्थान से है। अतः जो देव भवनों में रहते हैं, वे भवनवासी कहलाते हैं। ये देव रत्नप्रभा पृथ्वी के ''खर'' और ''पंक'' भाग में स्थित अपने 7,72,00,000 भवनों में रहते हैं। ये एक बार में 7 से 100 रूप बना सकते हैं। ये 150 धनुष क्षेत्र से लेकर जम्बू द्वीप तक को समुद्र में फेंक सकते हैं।

भवनवासी देव 10 प्रकार के होते है—

1. असुर कुमार 2. नाग कुमार 3. विद्युत कुमार 4. सुपर्ण कुमार 5. अग्नि कुमार 6. वात कुमार 7. स्तनित कुमार 8. उदधि कुमार 9. द्वीप कुमार 10. दिक् कुमार

यद्यपि इनमें वय व स्वभाव अवस्थित हैं, किन्तु इनकी वेषभूषा, शस्त्र, वाहन, और क्रीड़ा कुमारों की भांति होती हैं, अतः इनके ''कुमार'' शब्द लगाया गया है।

3.7 व्यन्तर देव (*Vyantar Devas*)—

ये भूत-पिशाच आदि जाति के देव होते हैं। ये देव रत्न प्रभा पृथ्वी के खर व पंक भाग में और मध्य लोक में सर्वत्र नाना द्वीपों, वनों, पर्वतों की चोटियों और नदी, गुफा, मकान, मठ, वृक्ष, कूप, बावड़ी उपवन आदि में विहार करते हैं। ये कौतुहलवश नाना प्रकार की क्रियाएं करते हैं। मनुष्य या तिर्यंच के शरीर में अपनी शक्ति का प्रवेश करा कर उसे हानि-लाभ पहुंचा सकते हैं, पूर्व जन्मों को याद कर के अन्य जीवों को सताते हैं। इनकी विक्रिया शक्ति भवनवासी देवों की भांति होती है। ये सबसे नीची जाति के देव हैं।

व्यन्तर देव 8 प्रकार के होते हैं—

1. किन्नर 2. किम्पुरुष 3. महोरग 4. गंधर्व 5. यक्ष 6. राक्षस 7. भूत 8. पिशाच

3.8 ज्योतिष्क (ज्योतिष) देव (*Jyotish Devas*)—

ज्योति का अर्थ प्रकाश होता है और ज्योतिष्क का आशय हुआ प्रकाश करने वाला। ज्योतिर्मय अर्थात् सदा प्रकाशमान रहने से सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। इनके विमान ज्योति प्रदान करते हैं। ये विमान रत्नमयी हैं और इनके ऊपर नगर हैं जिनमें अनेक मंजिलों वाले महल हैं। इन महलों में ज्योतिष्क देव रहते हैं। ये सुमेरु पर्वत की निरन्तर प्रदक्षिणा करते रहते हैं। ये मध्यलोक में होते हैं। मनुष्य लोक में अर्थात् अढ़ाई द्वीप में इनके विमान निरन्तर घूमते रहते हैं, जिससे दिन-रात का निर्धारण होता है। अढ़ाई द्वीप से बाहर ये स्थिर होते हैं अर्थात् चक्कर नहीं लगाते हैं। सूर्य एक मिनट में 447623-11/18 मील तथा चन्द्रमा एक मिनट में 422796-31/1647 मील गमन करता है। इनकी विक्रिया शक्ति भवनवासी देवों की भांति है।

समस्त ज्योतिष्क देव चित्रा पृथ्वी से 790 योजन ऊँचाई पर भ्रमण करते हैं। यह ऊँचाई अधिकतम 900 योजन होती है अर्थात् ये केवल 110 योजन क्षेत्र में ही रहते हैं।

ज्योतिष्क देव 5 प्रकार के होते हैं - (1) सूर्य, (2) चन्द्रमा, (3) ग्रह, (4) नक्षत्र, (5) तारे।

3.9 वैमानिक देव (*Vaimanik Devas*)—

जो विमानों में रहते हैं, वे वैमानिक देव कहलाते हैं। यद्यपि ज्योतिष्क देव आदि भी विमानों में रहते है फिर भी चौथे निकाय के देवों को ही वैमानिक संज्ञा रूढ़ है। ये दो प्रकार के होते हैं:-

(1) कल्पवासी (कल्पोपन्न) देव—जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि 10 प्रकार के देवों की कल्पना की जाती है, वे कल्पवासी देव कहलाते हैं। ऊर्ध्व लोक के प्रारम्भ में 16 स्वर्ग हैं, उनमें ये रहते हैं। ये युगल में हैं अर्थात् दो-दो स्वर्ग एक साथ हैं और ऊपर-ऊपर हैं। ज्यों-ज्यों नीचे से ऊपर के स्वर्ग में जाते हैं त्यों-त्यों अधिक सुख मिलता है।

इन 16 स्वर्गों के नाम और इनमें विमानों की संख्या निम्नानुसार है—

क्र.	**नाम स्वर्ग**	**विमानों की संख्या**	
1	सौधर्म	32 लाख	
2	ऐशान	28 लाख	
3	सानत्कुमार	12 लाख	
4	माहेन्द्र	8 लाख	
5 व 6	ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	4 लाख	
7 व 8	लान्तव–कापिष्ठ	50,000	
9 व 10	शुक्र–महाशुक्र	40,000	
11 व 12	सतार–सहस्त्रार	6,000	
13 से 16	आनत, प्राणत, आरण, अच्युत	700	
		योग	84,96,700

स्वर्ग संख्या 1 से 4 तक तथा 13 से 16 तक में प्रत्येक में 1 इन्द्र व 1 प्रतीन्द्र होते हैं। स्वर्ग संख्या 5–6, 7–8, 9–10 व 11–12 में प्रत्येक युगल में 1 इन्द्र व 1 प्रतीन्द्र होते हैं। इस प्रकार 16 स्वर्गों में 12 इन्द्र और 12 प्रतीन्द्र हैं।

लौकान्तिक देव—जो देव पांचवें स्वर्ग (ब्रह्म) के अंत में रहते हैं और जिनके लोक का अन्त निकट है, वे लौकान्तिक देव कहलाते हैं। ये देव तीर्थंकर के दीक्षा कल्याणक के समय भगवान की दीक्षा की भावना का अनुमोदन करने आते हैं। ये 24 प्रकार के होते हैं। ये 11 अंग और 14 पूर्व के धारी होते हैं और अखण्ड बाल ब्रह्मचारी होते हैं। इनके देवियाँ नहीं होती हैं, इसलिये ये ब्रह्मर्षि या देवर्षि भी कहलाते हैं। ये एक भवावतारी होते हैं अर्थात् अगले भव में मनुष्य योनि में जन्म लेकर उसी भव में मुनि बनकर मोक्ष जाते हैं।

(2) कल्पातीत देव—जिनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं की जाती है, वे कल्पातीत देव हैं। ये 16 स्वर्गों के ऊपर रहते हैं। ये सभी देव एक समान वैभव के धारी होते हैं और इनमें इन्द्र, सामानिक आदि का भेद नहीं होता है। यहां रहने वाले सभी देव स्वतंत्र हैं। ये अहमिन्द्र भी कहलाते हैं। अहमिन्द्र का अर्थ होता है– अहम् (मैं) इन्द्र अर्थात् मैं इन्द्र हूँ। इसलिये ही इन्हें अहमिन्द्र कहते हैं। ये 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तर विमानों में रहते हैं। विमानों के नाम व संख्या निम्नानुसार है–

क्र.सं.	विवरण	नाम विमान	विमानों की संख्या
1.	9 ग्रैवेयक		
	(1) अधोग्रैवेयक	सुदर्शन, अमोघ व सुप्रबुद्ध	111
	(2) मध्यग्रैवेयक	यशोधर, सुभद्र व सुविशाल	107
	(3) ऊर्ध्वग्रैवेयक	सुमन, सौमनस्य व प्रीतिंकर	91
2.	9 अनुदिश	आदित्य, अर्चि, अर्चिमालनी, वज्र, वेरोचन, सौम्य, सौम्यरूपक अंक तथा स्फुटिक	9
3.	5 अनुत्तर	विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि	5
			योग –323

सबसे ऊपर अनुत्तर के 5 विमानों में बीच वाले विमान का नाम ''सर्वार्थ-सिद्धि'' है। कसातीत स्वर्गों में यह सबसे उत्तम स्वर्ग माना जाता है।

उपरोक्तानुसार ऊर्ध्व-लोक में विमानों की कुल संख्या 8496700+323=8497023 हैं। इन सभी में एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस प्रकार ऊर्ध्व-लोक में 8497023 अकृत्रिम चैत्यालय हैं।

3.10 देवों के निवास स्थान (Residences of Celestial-beings)—

भवनवासी व व्यन्तर देवों के निवास तीन प्रकार के होते हैं - भवन, भवनपुर और आवास। ज्योतिष्क व वैमानिक देवों के निवास स्थानों को विमान कहते हैं। इन निवास स्थानों का वर्णन निम्न प्रकार है-

1. भवन—रत्नप्रभा पृथ्वी के खर व पंक भागों में स्थित निवास स्थानों को ''भवन'' कहते हैं। इनमें भवनवासी देव और व्यन्तर देव रहते हैं।

2. भवनपुर—मध्यलोक में नाना द्वीप-समुद्रों के ऊपर स्थित निवास स्थानों को ''भवनपुर'' कहते हैं। इनमें व्यन्तर देव और भवनवासी देव रहते है।

3. आवास—मध्यलोक में पर्वत, तालाब, मकान, वृक्ष आदि के ऊपर स्थित निवास-स्थानों को ''आवास'' कहते हैं। इनमें भी भवनवासी देव व व्यन्तर देव रहते हैं।

4. विमान—चित्रा पृथ्वी में ऊपर 790 से 900 योजन क्षेत्र तथा ऊर्ध्वलोक में स्थित निवास स्थानों को ''विमान'' कहते हैं। इनमें क्रमशः ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव रहते हैं।

देवांगना—सोलह स्वर्ग तक देवों के न्यूनतम 32 और अधिकतम हजारों देवियाँ होती हैं। देवियों का जन्म भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव और पहले-दूसरे स्वर्ग में ही होता है। आगे के स्वर्गों में देवियों का जन्म नहीं होता है। दूसरे स्वर्ग से ऊपर के देव अपनी-अपनी नियोगिनी देवियों की उत्पत्ति को अवधिज्ञान से जानकर उन्हें मूल शरीर सहित अपने-अपने विमानों में ले जाते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर देवांगनाएं नहीं होती हैं।

3.11 देव - देवांगनाओं में प्रवीचार (Sensual-Enjoyment in Celestials)—

मैथुन द्वारा कामसेवन को प्रवीचार कहते हैं। देवी-देवताओं में प्रवीचार निम्न प्रकार होता है-

1. भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देवों और सौधर्म व ऐशान स्वर्गों के देवों में शरीर से काम-सेवन होता है, जैसा मनुष्यों में होता है। यद्यपि देवों का शरीर वीर्य-रहित होता है और काम-सेवन से इनके वीर्य-स्खलन नहीं होता है, फिर भी शारीरिक सम्बन्ध स्थापित किये बिना इनकी भोग-लिप्सा शांत नहीं होती है।

2. सानत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्गों के देवों में अंगों के स्पर्श करने से काम-सेवन होता है।

3. ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव व कापिष्ट स्वर्गों के देवों में मनोज्ञ रूप व श्रृंगार आदि के अवलोकन से काम-सेवन होता है।

4. शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गों के देवों में मधुर संगीत व कोमल हास्य के शब्द सुनने से काम-सेवन होता है।

5. आनत, प्राणत, आरण व अच्युत स्वर्गों के देवों में मन से स्मरण करने मात्र से काम वासना पूर्ण हो जाती है।

6. अच्युत स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश व पंच-अनुत्तरों के देवों में काम वासना नहीं होती है।

देव वैक्रियिक शरीर के धारी होते हैं और वे मनुष्य व तिर्यंच के अपवित्र औदारिक शरीर के साथ काम सेवन नहीं करते हैं।

3.12 एक भवावतारी (Next Birth is the last one)—

सौधर्म इन्द्र, इसकी इन्द्राणी (शची), लौकान्तिक देव, सौधर्म इन्द्र के सभी लोकपाल, सभी दक्षिणेन्द्र और सर्वार्थसिद्धि के देव एक भवावतारी होते हैं अर्थात् ये देवगति से चयकर मनुष्य गति में जन्म लेकर नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भवनत्रिक देव—

तीन प्रकार के देवों अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों को भवनत्रिक देव कहते हैं। इनमें मिथ्यादृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

चारों प्रकार के देवों में सामान्य भेद—निम्न 10 भेद हैं—

(1) इन्द्र—आज्ञा व ऐश्वर्ययुक्त व सभी देवों के राजा इन्द्र कहलाते हैं। मुख्य इन्द्र के पश्चात् द्वितीय श्रेणी के इन्द्र प्रतीन्द्र कहलाते हैं।

(2) सामानिक—आज्ञा व ऐश्वर्य को छोड़कर इन्द्र के समान।

(3) त्रायस्त्रिंश—मंत्री और पुरोहित का कार्य करने वाले।

(4) पारिषद—मित्रों के समान सभा में आकर बैठने वाले।

(5) आत्मरक्षक—इन्द्र के पीछे रहकर रक्षा करने वाले।

(6) लोकपाल—द्वारपाल का कार्य करने वाले।

(7) अनीक—सैनिक (सात प्रकार की सेना में रहने वाले)।

(8) प्रकीर्णक—जो नगरवासी प्रजा के समान होते हैं।

(9) अभियोग्य—दास के समान सवारी के काम आने वाले । ऐरावत हाथी इस जाति का देव होता है जो इन्द्र की आज्ञानुसार व अपनी भक्ति से हाथी आदि का रूप धारण करता है।

(10) किल्विषक—चाण्डाल की उपमा धारण करने वाले (निम्न स्तर के कार्य करने वाले)।

भवनवासी व वैमानिक निकाय के देवों में उपरोक्त दस भेद होते हैं। परन्तु ज्योतिष व व्यन्तर जाति के देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नहीं होते हैं अर्थात् इनमें मात्र 8-8 भेद होते हैं।

देवों को बुढ़ापा, रोग, क्षुधा, वेदना आदि शारीरिक कष्ट यद्यपि नहीं होते हैं, फिर भी वैमानिक देव अन्य प्रकार के देवों से अधिक सुखी रहते हैं। देवों में वैभव, समृद्धि, सम्पत्ति, शासन आदि का बहुत अन्तर रहता है जिससे महान् ऋद्धि के धारकों को देखकर अपने को नीचा मान कर इन्हें मानसिक कष्ट बहुत रहता है। देव अवस्था में इनके छोटी-बड़ी पदवियाँ रहती हैं। नीची पदवी वाले देवों को ऊँची पदवी वाले देवों की सेवा आदि करनी पड़ती है। बड़े देवों की सवारी का कार्य भी छोटी पदवी वाले देव करते हैं। इसी वजह से इनमें परस्पर ईर्ष्या होती है।

3.13 पंचम गति (सिद्ध गति) (Fifth Destinity, *Siddha Gati*)—

जाइजरामरणभया, संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से, ण संति सा होदि सिद्ध गई।।51।।

जातिजरामरणभया, संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः।
रोगादिकाश्च यस्यां न संति सा भवति सिद्धगतिः।।51।।

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकार की जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, इनसे होने वाले दुःख, आहारादि विषयक संज्ञाएँ—वांछाएं और रोग आदि की व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गति में नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

भावार्थ—जाति नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एकेन्द्रियादिक जीव की पाँच अवस्थाएँ, आयुकर्म के विपाक आदि कारणों से शरीर के शिथिल होने पर जरा, नवीन आयु के बंधपूर्वक भुज्यमान आयु के अभाव से होने वाले प्राणों के त्याग रूप मरण, अनर्थ की आशंका करके अपकारक वस्तु से दूर रहने या भागने की इच्छारूप भय, क्लेश के कारणभूत अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति रूप संयोग, सुख के कारणभूत अभीष्ट पदार्थ के दूर हो जाने रूप वियोग,

इनसे होने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के दु:ख तथा आहार आदि विषयक संज्ञाएँ, शरीर की अस्वस्थता रूप अनेक प्रकार की व्याधि तथा आदि शब्द में मानभंग-वध-बंधन आदि दु:ख जिस गति में अपने-अपने कारणभूत कर्मों का अभाव हो जाने से नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

गति मार्गणा के चार ही भेद हैं क्योंकि वह उस नाम कर्म विशेष के उदय की अपेक्षा रखता है जो कि गति नाम से ही कहा गया है और जिसके चार ही भेद हैं किन्तु जीव की जिस गति—द्रव्यपर्याय विशेष को यहाँ बताया गया है वह मार्गणातीत है। वह किसी कर्म के उदय से नहीं किन्तु समस्त कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत हुआ करती है। अतएव चारों गतियों के अनंतर इसका पृथक् वर्णन किया गया है और सम्पूर्ण कर्मजन्य विकारी भावों से रहित इसको बताया गया है। इस अवस्था में आत्मद्रव्य के सभी स्वाभाविक गुणों का जो सद्‌भाव रहता है।

उपरोक्त चारों गतियों के अलावा उपचार से एक और गति कही जाती है, जिसे पंचम गति कहते हैं। जो जीव अपने कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाता है वह सिद्ध कहलाता है और उसे ही पंचम गति का जीव कहते हैं। वीतरागी भावों से यह गति प्राप्त होती है।

3.14 विग्रह गति (*Vigrah Gati*, Transit from One Birth to Another)—

विग्रह का अर्थ शरीर है। पूर्व भव के शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर को ग्रहण करने के लिये जीव जो गमन करता है उसे विग्रह गति कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है – मोड़ा सहित और मोड़ा रहित (सीधी)। संसारी जीव की विग्रह गति मोड वाली व बिना मोड वाली दोनों प्रकार की होती है।

विग्रह गति के चार भेद—

(1) इषुगति—सरल अर्थात् धनुष से छूटे बाण के समान मोड़ा रहित गति को ईषुगति या ऋजुगति कहते हैं। इसमें एक समय लगता है।

(2) पाणिमुक्ता गति—हाथ से तिरछे फेंके गये पदार्थ में एक मोड़ा होता है। इस एक मोड़े वाली गति में 2 समय लगते हैं।

(3) लांगलिका गति—जैसे हल में दो मोड़े होते हैं, वैसे ही यह गति 2 मोड़े वाली होती है। इसमें तीन समय लगते हैं।

(4) गोमूत्रिका गति—गाय का चलते समय मूत्र का करना कई मोड़ों वाला होता है। उसी प्रकार यह गति 3 मोड़ों वाली होती है। इसमें 4 समय लगते हैं।

उपरोक्तानुसार मोड़ा रहित गति में एक समय और मोड़ा सहित गति में 2, 3 या 4 समय लगते हैं और ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां पहुँचने में तीन से अधिक मोड़े लगते हों। इस प्रकार जीव के मरण के बाद अधिक से अधिक चार समय में जीव नये जन्म स्थान पर पहुंच जाता है।

मुक्त जीव की गति विग्रह रहित होती है।

3.15 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-मार्गणा का अर्थ बताते हुए इनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-गतिमार्गणा किसे कहते हैं, संसारी जीव की गतियों के नाम बताइये ?

प्रश्न 3-भवनवासी देवों के प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 4-विग्रहगति किसे कहते हैं ? इसके भेद बताइये ?

पाठ-4 – गतियों से आने-जाने के द्वार (Incoming and Outgoing doors of Destinities)

'भवांतरावाप्तिः गतिः' एक भव को छोड़कर दूसरे भव के ग्रहण करने का नाम गति है। गति के चार भेद हैं— नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। एक-एक गति से आने के और उसमें जाने के कितने द्वार हैं सो ही देखिए—

4.1 नरकगति से आने-जाने के द्वार (Incoming/Outgoing Doors of Infernal Destinity)—

(1) नरकगति से आने के दो द्वार हैं और नरकगति में जाने के भी दो ही द्वार हैं— एक मनुष्य और द्वितीय तिर्यंच। अर्थात् मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही मरकर नरकगति में जा सकते हैं तथा नरकगति से निकलकर जीव मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हो सकते हैं, अन्य गति में नहीं जा सकते हैं।

असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं चूँकि वे मन के बिना इतना अधिक पाप नहीं कर सकते हैं। सरीसृप तिर्यंच दूसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं। पक्षीगण कदाचित् नरक जावें तो तीसरे नरक तक ही जा सकते हैं इससे नीचे नहीं जा सकते हैं। सर्प चौथे नरक तक जा सकते हैं इससे नीचे नरकों में नहीं। सिंह कितना भी अधिक पाप क्यों न करे किन्तु वह पाँचवें नरक तक ही जन्म ले सकता है छठे या सातवें में नहीं। स्त्रियाँ अधिक से अधिक पाप करके भी छठे नरक तक ही जा सकती हैं, सातवें में नहीं चूँकि उनके उत्तम संहननों का अभाव है। पुरुष और मत्स्य सातवें नरक तक गमन करने की शक्ति रखते हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य और उसके कान में रहने वाले तन्दुल मत्स्य यदि हिंसा करते हैं या तंदुल मत्स्य जो कि सभी जीवों के खाने का भाव ही किया करता है, ये मत्स्य हिंसा के अभिप्राय से सातवें नरक में भी चले जाते हैं। यह तो हुई नरक गति में जाने वालों की बात। अथवा नरक गति में जाने के ये दो ही गतिरूप द्वार बताये हैं। अब वहाँ से आने वालों की गतियों को देखिए—

सातवें नरक से निकला हुआ जीव क्रूर पंचेन्द्रिय पशु ही होता है, वह मनुष्य नहीं हो सकता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य भी हो सकता है अर्थात् तिर्यंच या मनुष्य इन दो ही गतियों में जन्म ले सकता है और यह मनुष्य या तिर्यंच मोहकर्म के मंद हो जाने से कदाचित् गुरुओं का उपदेश या देवों का सम्बोधन प्राप्त करके अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म आदि कल्याणकों को या रथयात्रा आदि महामहोत्सवों को देखकर अथवा जातिस्मरण हो जाने के निमित्त आदि कारणों से सम्यक्त्व को भी ग्रहण कर सकता है किन्तु इस छठे नरक से आये हुए जीव के भाव अणुव्रत या महाव्रत ग्रहण के नहीं हो सकते हैं चूँकि उसमें अभी इतने पापकर्म मंद नहीं हो पाते हैं। पाँचवें नरक से निकला हुआ जीव यदि मनुष्य हुआ है तो महाव्रत ग्रहण कर मुनि होने की भी क्षमता रखता है तथा यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रत ग्रहण कर सकता है। चतुर्थ नरक से निकले हुए जीव में से यदि कोई मनुष्य हुआ है तो वह कदाचित् मुनिपद ग्रहण कर केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है और यदि तिर्यंच है तो वह देशव्रती तक हो सकता है। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है अर्थात् यदि किसी जीव ने यहाँ पर पहले नरकायु का बंध कर लिया अनन्तर उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ पुनः केवली भगवान के या श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया तो वह जीव मरने के कुछ क्षण ही पूर्व सम्यक्त्व से च्युत होकर तीसरे नरक में चला जाता है और वहाँ पर पर्याप्त अवस्था को प्राप्त होते हुए पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो फिर वहाँ अपनी आयुपर्यंत सम्यग्दृष्टि रहता है और उसके वहाँ से निकलने के छह महीने पहले ही देवगण वहाँ पर जाकर उस नारकी जीव (भावी तीर्थंकर) की सुरक्षा की व्यवस्था बना देते हैं-उसके चारों ओर परकोटा सुरक्षित कर देते हैं तथा वे देवगण यहाँ मध्यलोक में जन्म नगरी में अतिशय शोभा करके माता के आंगन में रत्नों की वर्षा प्रारंभ कर देते हैं। श्री, ह्री आदि देवियाँ इन्द्र महाराज की आज्ञा से आकर माता की सेवा करती हैं, गर्भशोधन आदि क्रियाएँ करती हैं।

अनन्तर तीर्थंकर होने वाला वह जीव नरक से निकलकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है तब इन्द्र शची सहित

असंख्य देव परिवारों के साथ आकर तीर्थंकर के माता-पिता की पूजा करके महान उत्सव के साथ गर्भकल्याणक मनाते हैं। तात्पर्य यह रहा कि तीसरे नरक से निकलकर जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे और पहले नरक से निकले हुए जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं, केवली भी हो सकते हैं और मोक्षपद को भी प्राप्त कर सकते हैं किन्तु नरकों से निकले हुए जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण या प्रतिनारायण नहीं हो सकते हैं यह बात विशेष है। इस तरह नरकगति से आने के द्वार अर्थात् गतियाँ बताई गई हैं। इसमें यह बात खासतौर से समझने की है कि जो नरक से निकलकर तीर्थंकर या केवली आदि होते हैं वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है। सातवें नरक से जीव सम्यक्त्व लेकर नहीं निकल सकते हैं किन्तु अन्य नरकों से सम्यक्त्व लेकर भी निकल सकते हैं। सातों ही नरकों में जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। नरकों में सम्यक्त्व के बहिरंग कारणों में वेदना अनुभव, जातिस्मरण और देवों द्वारा सम्बोधन, ये 3 कारण माने गये हैं। देवों द्वारा सम्बोधन तृतीय नरक तक ही है इससे नीचे कोई भी देव नहीं जाते हैं अतः चतुर्थ आदि नरकों में दो ही कारण हैं। यदि किसी मनुष्य ने पहले नरकायु बांध ली है और बाद में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वह पहले नरक में ही जा सकता है, इससे नीचे नहीं।

नरकगति में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु में तेंतीस सागर प्रमाण है। इनकी आयु का विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों से जानना चाहिए।

तात्पर्य यही समझना चाहिए कि सम्यक्त्व के बिना यह जीव अनन्तों बार नरकगति में जा चुका है और वहाँ से आकर मनुष्य भव को भी प्राप्त कर संसार में ही घूमता रहता है। यदि संसार भ्रमण को समाप्त करना है तो सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिए।

4.2 तिर्यग्गति से आने-जाने के द्वार (Incoming/Outgoing Doors of Sub-human Destinity)—

पंचेन्द्रिय पशु यदि मरण करते हैं तो वे चौबीसों दण्डक में (चारों गतियों में) जा सकते हैं। तो पहले आप चौबीस दण्डक को समझ लीजिए—

नरक गति का दण्डक—1, भवनवासी के दण्डक—10, ज्योतिषी देव का—1, व्यंतरों का—1, वैमानिक देवों का—1, स्थावर के—5, विकलत्रय के—3, पंचेन्द्रिय तिर्यंच का—1 और मनुष्य का—1, ऐसे 1+10 +1+1+1+5+3+1+1=24 ये चौबीस दण्डक माने गये हैं। इन चौबीस दण्डकों के नाम पं. दौलतराम जी कृत "चौबीस दण्डक" नामक पुस्तक से दिये गये हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन चौबीसों दण्डकों में जा सकते हैं और चौबीस दण्डक से आये हुए जीव पशु हो सकते हैं।

विकलत्रय अर्थात् दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीवों के जाने की तथा आने की दश ही गति हैं। ये विकलत्रय मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन दश स्थानों में जन्म ले सकते हैं तथा इन दश स्थानों से निकलकर ही विकलत्रय होते हैं अर्थात् विकलत्रय जीव तिर्यंच गति और मनुष्य गति में ही तो जन्म ले सकते हैं और तिर्यंच या मनुष्य ही मरकर विकलत्रय हो सकते हैं। ये विकलत्रय जीव मरकर देवगति या नरकगति में नहीं जा सकते हैं और न देवगति या नरकगति से निकलकर जीव विकलत्रय ही हो सकते हैं। इनका अस्तित्व भी कर्मभूमि में ही है। ये जीव न नरक भूमि में हैं, न स्वर्ग भूमि में हैं, न भोगभूमि में हैं और न असंख्यात द्वीप समुद्रों में ही जन्मते हैं। ये मात्र कर्मभूमियों में, लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र में, स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तर भाग की कर्मभूमि में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में ही जन्मते हैं, अन्यत्र ये नहीं पाये जाते हैं।

नारकियों के बिना बाकी शेष तेईस दंडक के जीव मरकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक[1] में जन्म ले सकते हैं अर्थात् भवनत्रिक देव और वैमानिक में ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर इन तीनों स्थावर में जन्म ले सकते हैं तथा ये तीनों स्थावर मरकर देवगति और नरकगति के सिवाय सर्वत्र दश दण्डकों में अर्थात् पाँचों स्थावर, तीन

विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य में जन्म ले सकते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव मरकर पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पशु इन नव स्थानों में ही जन्म ले सकते हैं। वे मरकर मनुष्य, नारकी या देव नहीं हो सकते हैं। तथैव देव या नारकी भी इन दो स्थावरों में जन्म नहीं ले सकते हैं, किन्तु मनुष्य मरकर अग्निकायिक व वायुकायिक हो सकते हैं अर्थात् एक मनुष्य गति ही ऐसी गति है कि जिससे जाने के लिए सभी मार्ग खुले हुए हैं।

4.3 तिर्यंचों की आयु (Age of Sub-human beings) —

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु 12 हजार वर्ष, खर पृथ्वीकायिक जीव की 22 हजार वर्ष, जलकायिक जीव की 7 हजार वर्ष, अग्निकायिक जीव की 3 दिन, वायुकायिक जीव की 3 हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक जीव की 10 हजार वर्ष प्रमाण है।

विकलेन्द्रियों में दो इन्द्रिय की 12 वर्ष, तीन इन्द्रियों की 49 दिन और चार इन्द्रियों की 6 मास प्रमाण है।

पंचेन्द्रियों में सरीसृप की उत्कृष्ट आयु 9 पूर्वांग, पक्षियों की 72 हजार वर्ष और सर्पों की 42 हजार वर्ष है। शेष तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण है।

यह उपर्युक्त आयु पूर्व-पश्चिम विदेहों में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तथा स्वयंप्रभपर्वत के बाह्य कर्मभूमि भाग में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के तो सर्वकाल पायी जाती है तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र के भीतर चतुर्थकाल के प्रथम भाग में किन्हीं तिर्यंचों के पाई जाती है।

एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है तथा विकलेन्द्रिय एवं सकलेन्द्रियों की क्रमशः इससे उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है।

उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि के तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु क्रम से तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य है। शाश्वत भोगभूमियों में जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट ये तीन प्रकार ही हैं।

अशाश्वत भोगभूमि में से जघन्य भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट एक पल्य प्रमाण है और मध्यम आयु के भेद अनेक प्रकार हैं। मध्यम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य है तथा मध्यम में अनेक भेद हैं। उत्तम भोगभूमि में जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, मध्यम के अनेक भेद हैं।

हैमवत, हरि, विदेह के देवकुरु-उत्तरकुरु, रम्यक् और हैरण्यवत् ये छह, ऐसे ही पाँच मेरु संबंधी 30 भोगभूमि शाश्वत अनादिनिधन हैं उनमें परिवर्तन का कोई सवाल ही नहीं है तथा पाँच भरत और पाँच ऐरावतों के आर्य खण्डों में जो षट्काल परिवर्तन से तीन कालों में उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि होती हैं, वे अशाश्वत हैं उनमें अवसर्पिणी युग में क्रम से हानि और उत्सर्पिणी में क्रम से वृद्धि चलती रहती है। वहीं पर जघन्य, मध्यम आयु होती है।

4.4 भोगभूमिज तिर्यंचों के आने-जाने के द्वार (Incoming/Outgoing doors of Sub-human beings of the Lands of Enjoyments) —

कर्मभूमियाँ मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं तथा भोगभूमि से मरकर तिर्यंच जीव नियम से देवगति में ही जाते हैं। भवनत्रिक से ईशान स्वर्ग तक इनका जाने का मार्ग खुला है। कर्मभूमि के असंयत सम्यग्दृष्टी या देशव्रती तिर्यंच अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं, ऐसा भी विधान है।

4.5 तिर्यंचों में गुणस्थान (Stages of Spiritual Development of Sub-human beings) —

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों के अतिरिक्त पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है अर्थात् ये बेचारे मिथ्यादृष्टी ही बने रहते हैं।

भरत, ऐरावत के आर्यखण्ड के तिर्यंचों में पाँच गुणस्थान तक हो सकते हैं। पाँच विदेहों में, विद्याधर श्रेणियों में व स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में तिर्यंचों के पाँच गुणस्थान तक देखे जाते हैं।

म्लेच्छों के तिर्यंचों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

भोगभूमिज तिर्यंचों के पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा ये चार गुणस्थान तक हो सकते हैं। वहाँ पर पाँचवाँ देशविरत गुणस्थान नहीं होता है।

4.6 सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण (Causes of Achieving Right Faith)—

कितने ही तिर्यंच गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोध से तथा कितने ही जीव स्वभाव से प्रथमोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व ग्रहण कर लेते हैं तथा कितने ही सुख-दु:ख को देखकर, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्र महिमा के दर्शन से और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार से कर्मभूमिज जीव गुरुओं के उपदेश या देवों के प्रतिबोध आदि कारणों से पाँच अणुव्रतों को ग्रहण कर देश-संयत भी हो जाते हैं। तिर्यंचगति में सम्यक्त्व प्राप्ति के मुख्य तीन कारण हैं—जाति स्मरण, धर्मोपदेश और जिनबिम्बदर्शन।

सम्यग्दृष्टी तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में वैमानिक देव होते हैं अर्थात् भवनत्रिक में नहीं जाते हैं और न अन्यत्र तीन गतियों में ही जाते हैं। यदि इन्होंने पहले तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली, पीछे सम्यक्त्व ग्रहण किया है तो सम्यक्त्व सहित ये जीव भोगभूमि के तिर्यंच या मनुष्य हो जाते हैं पुन: वहाँ से नियम से सौधर्म या ईशान स्वर्ग में देव हो जाते हैं।

इन तिर्यंचों में से भोगभूमिज तिर्यंचों में संकल्पवश से केवल एक सुख ही होता है और कर्मभूमिज तिर्यंचों में सुख-दु:ख दोनों ही पाये जाते हैं।

4.7 मनुष्यगति से आने-जाने के द्वार (Incoming/Outgoing doors of Human Destinity)—

मनुष्यगति में प्राप्त करने योग्य सबसे श्रेष्ठ जो स्थान 'मुक्तिधाम' है यदि आप इस मनुष्य पर्याय से उस मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए धर्म पुरुषार्थ का अवलंबन कर लेते हैं तो ठीक है अन्यथा इस चिंतामणि सदृश मनुष्य गति से आप निगोद में भी जा सकते हैं-जहाँ से पुन: निकलना बहुत ही दुर्लभ हो जाता है अत: सभी पर्यायों में सार मनुष्य पर्याय है, मनुष्य पर्याय का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण सुख है, ऐसा समझकर संयम को ग्रहण कर लेना चाहिए।

मनुष्य चौबीसों दण्डक में जा सकता है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। यह मनुष्य मुक्ति को भी प्राप्त करके तीन लोक का स्वामी हो सकता है। चूँकि मुनि बने बिना कोई भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी मुनि हो नहीं सकता। जो सम्यग्दृष्टी मुनि होते हैं वे ही इस संसार समुद्र को पार कर शिवधाम में पहुँचते हैं वहाँ पर जाकर अविनश्वर हो जाते हैं फिर पुन: उन्हें यहाँ आने का कोई मार्ग ही नहीं रहता है। वहाँ पर वे शाश्वत चिच्चैतन्य-स्वरूप अपनी आत्मा में ही निवास करते हैं और परमानंदमय सुख का अनुभव करते रहते हैं।

इस प्रकार से मनुष्यगति से जाने के गति द्वार पच्चीस हो जाते हैं तथा मनुष्यगति में आने के द्वार बाईस ही हैं। चूँकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव मरकर मनुष्य नहीं हो सकते हैं तथा पच्चीसवाँ दण्डक जो सिद्धगतिरूप है वहाँ से आने का तो सवाल ही नहीं उठता है। यह तो सामान्य मनुष्यों की बात हुई है। अब विशेष अर्थात् पदवीधारी मनुष्यों की गति-आगति को देखिए—

4.8 तीर्थंकर के आने के दो द्वार हैं (Two Incoming Doors for Being Teerthankar)—

वे या तो स्वर्ग से आते हैं या नरक से और पुन: वे गति अर्थात् जन्म को धारण नहीं करते हैं बल्कि उसी भव से लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो जाते हैं अत: तीर्थंकर के आने के द्वार दो हैं और जाने का द्वार एक पच्चीसवें दण्डकरूप मोक्ष ही है।

चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र ये स्वर्ग- लोक से ही आते हैं अत: इनके आने का द्वार एक ही है तथा इनमें से चक्रवर्ती स्वर्ग, नरक या मोक्ष इन तीन स्थानों में जा सकते हैं। यदि चक्रवर्ती तपश्चरण करते हैं अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और यदि राज्य में मरण करते हैं तो नरक में चले जाते हैं किन्तु अंत में ये मोक्ष को नियम से प्राप्त करते हैं चूँकि पदवीधारी हैं। बलभद्रों के लिए जाने के दो ही द्वार हैं — स्वर्ग या मोक्ष। क्योंकि ये नियम से तपश्चरण धारण करते हैं। अर्धचक्री अर्थात् नारायण और प्रतिनारायण ये नियम से नरक ही जाते हैं चूँकि ये राज्य में ही मरते हैं अत: ये उस ही भव से मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं किन्तु अंत में ये नियम से निर्वाण प्राप्त करते ही करते हैं अर्थात् ये चक्रवर्ती या अर्धचक्री उस भव से यदि नरक भी चले जाते हैं तो भी कतिपय भवों को धारण कर पुन: ये मोक्ष अवश्य प्राप्त करते हैं। चूँकि पदवीधारक पुरुषों के आखिर में मोक्ष का नियम ही है। यह शलाका पुरुषों की बात हुई। इनके अतिरिक्त भी जो पदवीधर हैं उनके विषय में पढ़िये —

जो कुलकर हो जाते हैं, या नारद हो जाते हैं या रुद्र हो जाते हैं और कामदेव हो जाते हैं या तीर्थंकर के माता-पिता हो जाते हैं, वे भी इन पदों को धारण करने के बाद कुछ भव के बाद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करते हैं चूँकि इन पदों को धारण करने वाले जीव बहुत काल तक संसार में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। कुलकर चौदह होते हैं, नारद नव होते हैं, रुद्र ग्यारह होते हैं और कामदेव चौबीस होते हैं।

कुलकर स्वर्ग में ही जाते हैं अत: इनके जाने का एक ही द्वार है तथा आने में ये इस अवसर्पिणी में तो विदेह क्षेत्र में पहले मनुष्यायु बांध कर पीछे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुए हैं अत: वे यहाँ भरतक्षेत्र के तृतीय काल के अंत में भोगभूमि में कुलकर हुए हैं। जन्मांतर में ये भी निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

कामदेव पदवी धारक पुरुष नियम से कामदेव का नाशकर मोक्षधाम को प्राप्त करते हैं। नारद और रुद्र अधोगति में ही अर्थात् नरक में ही जाते हैं क्योंकि नारद तो कलहप्रिय होते हैं और रुद्र अपने जीवन को पाप से कलंकित कर लेते हैं। फिर भी ये नारद और रुद्र भी जन्मांतर में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तीर्थंकर के पिता या तो स्वर्ग जाते हैं या सिद्धपद प्राप्त करते हैं अत: इनके भी जाने के दो ही द्वार हैं। माता स्वर्ग ही जाती हैं पुन: अल्पकाल में ही निर्वाण को प्राप्त कर लेती हैं।

शाश्वत भोगभूमि और अशाश्वत भोगभूमि दोनों भोगभूमि से मनुष्यों के जाने का एक ही द्वार है — देवगति अर्थात् भवनत्रिक या सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक ये जीव मरकर जा सकते हैं। भोगभूमि में आने के दो द्वार हैं-कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य। अर्थात् ये ही जीव मरकर भोगभूमि में जा सकते हैं।

4.9 मनुष्यों की आयु (Age of Human-beings) —

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है। यह आयु कर्मभूमियाँ जीवों की है। पूर्व-पश्चिम विदेह में तथा चतुर्थकाल के पूर्वकाल में यह उत्कृष्ट आयु होती है। मध्यम आयु के अनेक भेद हैं। भोगभूमि में उत्तम में तीन पल्य, मध्यम में दो पल्य और जघन्य में एक पल्य आयु है। परिवर्तनशील भोगभूमियों में उत्कृष्ट तो यही आयु है। जघन्य आयु उत्तम भोगभूमि में एक समय अधिक दो पल्य, मध्यम भोगभूमि में एक समय अधिक एक पल्य और जघन्य भोगभूमि में एक समय अधिक एक पूर्वकोटिप्रमाण है तथा मध्यम आयु के अनेक भेद हैं।

लवण समुद्र आदि में कुभोगभूमियों में कुमानुष रहते हैं, ये भी मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में जो मनुष्य रहते हैं वे विद्याधर कहलाते हैं। इनमें कुछ विद्याएँ जाति और कुल की परम्परा से प्राप्त रहती है, कुछ विद्याएँ सिद्ध करके ये लोग नाना प्रकार से विद्याओं के निमित्त से सुखों का अनुभव करते हैं।

4.10 मनुष्यों में गुणस्थान व्यवस्था (Stages of Spiritual Development in Human-beings)—

विदेह क्षेत्रों में हमेशा चौदहों गुणस्थान पाये जाते हैं अर्थात् वहाँ से हमेशा मोक्ष का द्वार खुला रहता है। भोगभूमि में चार गुणस्थान तक ही हो सकते हैं। सभी म्लेच्छों के मनुष्यों को वहाँ पर एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।

विद्याधरों के चौदह गुणस्थान तक हो जाते हैं, जबकि ये विद्याओं को छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं तब, अन्यथा विद्यासहित अवस्था में पाँच गुणस्थान तक हो सकते हैं अर्थात् विद्या सहित जीव कदाचित् क्षुल्लक बन सकते हैं किन्तु मुनि नहीं बन सकते।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के चतुर्थकाल में चौदह गुणस्थान होते हैं। चतुर्थकाल के जन्मे हुए मनुष्य कदाचित् पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्मे हुए नहीं जा सकते। पंचमकाल में उत्तम तीन संहनन के न होने से अधिक से अधिक सोलह स्वर्ग तक का मार्ग खुला है। कदाचित् कोई महामुनि लौकांतिक देव भी हो सकते हैं अर्थात् पंचमकाल में छठा, सातवाँ गुणस्थान होता है अतः मुनियों का अस्तित्व अंत तक है।

4.11 सम्यक्त्वग्रहण के कारण (Causes of Obtaining Right Faith)—

कितने ही मनुष्य गुरुओं के उपदेश से या देवों के प्रतिबोधन से अथवा स्वभाव से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लेते हैं। कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही जिनेन्द्रदेव के कल्याणकों को देखकर, कितने ही जीव जिनबिम्ब के दर्शन से औपशमिक आदि सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेते हैं क्षायिक सम्यक्त्व तो केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्रगट होता है अतः आज पंचमकाल में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता है। मनुष्यगति में सम्यक्त्व उत्पत्ति के मुख्य तीन कारण हैं—जातिस्मरण, धर्मोपदेश एवं जिनबिम्बदर्शन।

सम्यक्त्वग्रहण के पहले यदि इसने तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांध ली है पुनः क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो यह जीव भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य होगा, अन्यथा स्वर्ग ही जाएगा। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असैनी आदि नहीं होता है, स्त्री या नपुंसक नहीं होता है और न वह दरिद्री, विकलांग, अल्पायु ही होता है किन्तु महापुरुष होकर कालांतर में या उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आपको शायद देवगति सबसे अधिक प्रिय लगती हो, किन्तु देखिये! देवगति के सुख भोगकर यह जीव वहाँ की आयु पूर्ण कर नियम से मरेगा और मरकर तिर्यंच होगा या मनुष्य। यदि मिथ्यादृष्टि है और वहाँ के भोगों को छोड़ते हुए अधिक संक्लेश हो रहा है तो प्रायः वही जीव एकेन्द्रिय स्थावर योनि में पृथ्वी, जल या वनस्पति हो जाता है, फिर वहाँ से निकलने का क्या उपाय है ? इन्हीं तुच्छ कुयोनियों में यह जीव भटकता रहता है क्योंकि एकेन्द्रिय में कान के बिना गुरू का उपदेश आदि है ही नहीं, अतः देवगति की इच्छा नहीं करना चाहिये।

4.12 देवगति से आने-जाने के द्वार (Incoming/Outgoing doors of Celestial Destinity)—

देवों के तेरह दंडक माने हैं—भवनवासी देवों के 10, व्यंतर देवों का 1, ज्योतिषी देवों का 1 और वैमानिक देवों का 1, ऐसे 10 + 1 + 1 + 1 = 13 दंडक देवसंबंधी हैं।

मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच इनके बिना कोई भी देवपद को प्राप्त नहीं कर सकते हैं अर्थात् स्थावर व विकलत्रय तिर्यंच देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथा देव और नारकी भी देवगति प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

4.13 देवों के लिये जाने के पाँच द्वार हैं (Five Outgoing Doors of Celestials)—

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिक, पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य। अर्थात् देव मरकर इन पाँच पर्यायों में जन्म धारण कर सकते हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देव तथा वैमानिक देवों में से सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों तक के देव ही मरकर कदाचित् स्थावर योनि में जन्म ले सकते हैं, इनसे आगे के देव नहीं तथा बारहवें स्वर्ग तक के देव मरकर कदाचित्

पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो सकते हैं आगे के नहीं। अर्थात् दूसरे स्वर्ग तक देवों के लिये तीन स्थावर काय, पशु और मनुष्य इन पाँचों में आने का द्वार खुला हुआ है, तीसरे स्वर्ग से लेकर बारहवें स्वर्ग तक के देवों के लिए स्थावर का द्वार बंद हो गया है, मात्र पंचेन्द्रिय पशु और मनुष्य इनका द्वार खुला हुआ है, तथा उससे ऊपर के देवों के लिए एक मनुष्य का ही द्वार शेष है बाकी सभी द्वार बंद हैं। ये तो देवों के आने के द्वार आपने सुने, अब जाने के द्वार भी देखिये—

पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य ही देवगति को प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं। इसमें भी भोगभूमि के मनुष्य या पशु मरकर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में अथवा सौधर्म, ईशान स्वर्ग में जन्म ले सकते हैं अर्थात् इनके लिये दूसरे स्वर्ग तक ही मार्ग खुला हुआ है, आगे नहीं। किन्तु देव, मरकर भोगभूमि में जन्म नहीं ले सकते हैं, यह नियम है। कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यंच ही भोगभूमि में जाते हैं अन्य कोई नहीं जा सकते हैं।

कर्मभूमि के तिर्यंच यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत धारण कर लेते हैं तो वे बारहवें स्वर्ग तक चले जाते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं।

अन्यमती साधु पंचाग्नि तप करके भवनत्रिक देवों तक जा सकते हैं। पारिव्राजक और दंडी साधु अधिक से अधिक पाँचवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। परमहंस नामक साधु बारहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं इसके ऊपर नहीं जा सकते। परमत से मोक्ष की सिद्धि नहीं है चूँकि कर्मों का नाश जैनमत के बिना सर्वथा असम्भव ही है।

आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक या क्षुल्लिका सोलहवें स्वर्ग तक ही जा सकते हैं, इसके आगे नहीं। क्योंकि बिना मुनिपद धारण किये आगे जाना असंभव है। द्रव्यलिंगी मुनि नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं, आगे नहीं। भावलिंगी महामुनि ही नवअनुदिश और पाँच अनुत्तरों में जन्म लेते हैं।

यह जीव कितनी ही बार देवपद को प्राप्त कर चुका है किन्तु उनमें भी कुछ ऐसे पद हैं जिन्हें नहीं पाया, नहीं तो अब तक मोक्ष को प्राप्त कर लेता।

इंद्र पद को इसने नहीं पाया अर्थात् सौधर्म आदि छह दक्षिणेंद्र नियम से एक भवावतारी होते हैं। उन्हीं के लोकपाल पद को भी इसने नहीं पाया चूँकि वे भी मोक्षगामी हैं। शचीदेवी भी नियम से वहाँ से नरलोक में आकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं चूँकि तीर्थंकरों के जन्म महोत्सव में जब इंद्राणी बालक को प्रसूतिगृह में लेने जाती हैं उस समय उन्हें तीर्थंकर शिशु को स्पर्श कर इतना आनन्द होता है कि वे उसी समय अपनी स्त्रीपर्याय का छेद कर देती हैं। दूसरी बात यह है कि शचीदेवी को नियम से उस पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद पुनः स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है।

लौकांतिक देव तथा अनुत्तरवासी देवों के लिये भी निर्वाण का नियम है। लौकांतिक देव तो एक भवावतारी ही होते हैं और विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित इन विमानों के देव द्विचरम माने गये हैं अर्थात् अधिक से अधिक दो भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा सर्वार्थसिद्धि के देव नियम से वहाँ से आकर एक भव से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इस सर्वार्थसिद्धि के ऊपर सिद्धलोक में जाने वाले जीव अर्थात् मुक्त होने वाले जीवों के आने का द्वार तो बंद ही है और मुक्तगति में जाने के लिए एक मनुष्यगति का ही द्वार है।

भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं किन्तु वहाँ पर सम्यक्त्व ग्रहण कर सकते हैं।

4.14 सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण (Causes of Achieving Right Faith)—

कोई देव जिनमहिमा के दर्शन से, कोई जातिस्मरण से, कोई देवों की ऋद्धि देखने से, कोई पाँच कल्याणकों का उत्सव देखने से और कोई देव उपदेश के श्रवण से सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं अतः भवनत्रिकों में भी चार गुणस्थान होते हैं। देवगति में सम्यक्त्वोत्पत्ति के मुख्य चार कारण माने हैं—जातिस्मरण, जिनमहिमादर्शन, धर्मोपदेश एवं देवर्द्धिदर्शन।

कल्पवासी देवों में भी नवग्रैवेयक तक भाव मिथ्यादृष्टी जीव जा सकते हैं, द्रव्य से मिथ्यावेषधारी पाखंडी अर्थात् जिनमत के बाह्य साधु तो बारहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। आगे के विमानों में अर्थात् नवअनुदिश और अनुत्तरों में सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं अत: नवग्रैवेयक तक जीव यदि मिथ्यादृष्टी हैं तो वे सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं इसलिये वहाँ तक चारों गुणस्थान होते हैं।

4.15 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–नरक गति में आने–जाने के द्वारों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2–तीर्थंकर के आने–जाने के द्वारों के नाम बताइये ?

प्रश्न 3–चक्रवर्ती के आने–जाने के द्वारों का विवेचन कीजिए ?

इकाई–5 इन्द्रिय मार्गणा आदि शेष मार्गणाएँ एवं उपयोग (Rest *Marganas* and *Upyog*)

इस इकाई में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) इन्द्रिय मार्गणा

(2) काय, योग और वेद मार्गणा

(3) कषाय और ज्ञानमार्गणा

(4) संयम, दर्शन, लेश्या और भव्यत्व मार्गणा

(5) सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक मार्गणा तथा उपयोग

पाठ-1—इन्द्रिय मार्गणा (*Indriya Margana*)

संसारी आत्मा के बाह्य चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा इन्द्रिय की पहचान हो, वह इन्द्रिय मार्गणा है। ये पांच होती हैं- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

1.1 इन्द्रियाँ (Senses)—

जिससे संसारी जीवों की पहचान हो उसे इन्द्रिय कहते हैं या संसारी जीवों के ज्ञान के साधन को इन्द्रिय कहते हैं। शरीरधारी जीवों के ज्ञान के साधन रूप 5 इन्द्रियाँ होती हैं जो अपने निश्चित विषय को ही जान पाती हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान पाती है। ये इन्द्रियाँ मात्र पुद्गल के ज्ञान में ही सहायक होती हैं, आत्मा के ज्ञान में नहीं।

1.2 इन्द्रियों के भेद (Kinds of Senses)—

इन्द्रियाँ पांच प्रकार की होती हैं–

(1) स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय—शरीर के जिस हिस्से से छूकर पदार्थ के स्पर्श (हल्का, भारी, गरम, ठंडा, कठोर, मुलायम, चिकना व रूखा) सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है।

(2) रसना (जिह्वा) इन्द्रिय—शरीर के जिस हिस्से से चखकर पदार्थ के स्वाद (खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला व चरपरा) का ज्ञान होता है, वह रसना इन्द्रिय है।

(3) घ्राण (नासिका) इन्द्रिय—शरीर के जिस हिस्से से सूंघकर पदार्थ की गंध (सुगंध व दुर्गन्ध) का ज्ञान होता है, वह घ्राण इन्द्रिय है।

(4) चक्षु (नेत्र) इन्द्रिय—शरीर के जिस हिस्से से देखकर पदार्थ के रंग (काला, नीला, पीला, लाल और सफेद) का ज्ञान होता है वह चक्षु इन्द्रिय है।

(5) श्रोत्र (कर्ण) इन्द्रिय—शरीर के जिस हिस्से से सुनकर ध्वनि शब्द (सप्त–स्वर, वाद्य–यंत्र, रेडियो, जीवों आदि की आवाज) का ज्ञान होता है, वह श्रोत्र इन्द्रिय है।

1.3 इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं (Two types of Senses)-

पांचों इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों रूप होती हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है–

(क) द्रव्येन्द्रिय—जो निवृत्ति और उपकरण रूप है तथा बाहर से दिखाई देती है, उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। रचना का नाम निवृत्ति और जो निवृत्ति के लिए सहायक है, वह उपकरण है। द्रव्येन्द्रिय उपरोक्त पांच प्रकार की होती हैं।

(ख) भावेन्द्रिय — लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय है। इसी के द्वारा आत्मा द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से वस्तु को देखती है।

भावेन्द्रिय होने पर ही द्रव्येन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसलिये भावेन्द्रिय कारण है और द्रव्येन्द्रिय कार्य है। आत्मा होने पर ही इन्द्रियों की विषयों में प्रवृति होती है, अन्यथा नहीं। जैसे मृत मनुष्य के इन्द्रियां तो होती हैं किन्तु आत्मा के अभाव में वे अपने विषय को नहीं जान सकती हैं।

इन्द्रियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण —

उपरोक्त 5 इन्द्रियों के आधार पर जीव भी पांच प्रकार के होते हैं-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

1.4 गतियों की अपेक्षा से इन्द्रियों की संख्या (Number of Senses According to destinities) —

देव, नारकी और मनुष्य गतियों में जीवों के पांचों इन्द्रियाँ होती हैं। तिर्यंच गति के जीवों के 1, 2, 3, 4 या 5 इन्द्रियाँ होती हैं। केवली के इन्द्रियाँ तो होती हैं, लेकिन वे इनका उपयोग नहीं करते हैं और सब कुछ आत्मा से ही जानते/देखते हैं। सिद्ध गति में कोई इन्द्रिय नहीं होती है क्योंकि सिद्धों के शरीर ही नहीं होता है।

मन-ईषत् इन्द्रिय —

मन को ईषत् इन्द्रिय या अन्तरंग इन्द्रिय कहा गया है। इसको नो-इन्द्रिय भी कहते हैं।

इन्द्रिय-विषय —

पांचों इन्द्रियों के विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं। स्पर्श के 8, रस के 5, गंध के 2, वर्ण के 5, कर्ण के 7

1.5 इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं (No bliss in Sensual Enjoyments) —

उपरोक्त पांचों इन्द्रियाँ और मन से सम्बन्धित विषयों में सुख मानना इन्द्रिय सुख है। यह वस्तुतः सुख नहीं है, सुख का आभास मात्र है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं और जो जड़ में सुख माने वह मिथ्यात्व है। इनसे दुःख ही मिलता है तथा जीव इन भोगों में फंसा रहकर अपना काल नष्ट करता रहता है। इन्द्रिय.सुख में फंस कर जीव कभी शांतचित्त होकर नहीं बैठ सकता है। सभी जानते हैं कि-

(1) स्पर्शन इन्द्रिय के भोग में फंसकर हाथी गड्ढे में गिरकर घोर बन्धन के दुःख भोगता हुआ अपने प्राण गवां देता है।

(2) रसना इन्द्रिय के भोग में फंसकर मछली धीवर के फैलाये काँटे में फंसकर अपने प्राण गवां देती है।

(3) घ्राण इन्द्रिय के भोग में फंसकर भौंरा सिकुड़ते हुए कमल में रह जाने से अपने प्राण गवां देता है।

(4) चक्षु इन्द्रिय के भोग में फंसकर पतंगा दीपक की लौ में जलकर अपने आप को जला देता है।

(5) कर्ण इन्द्रिय के भोग में फंसकर हिरण मधुर राग के वशीभूत हो जाने से शिकार हो जाता है अर्थात् अपने प्राण गवां देता है।

जब ये जीव एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपने प्राण गवां देते हैं तो यह विचारणीय है कि मनुष्य, जो पांच इन्द्रियों वाला है, की दशा क्या होगी अर्थात् इन्द्रियों के भोगों में लेश मात्र भी सुख नहीं है।

1.6 मन (Mind) —

जिसके द्वारा सुने/देखे गये पदार्थों का स्मरण हो, शिक्षा ग्रहण हो, तर्क-वितर्क हो और संकेत समझा जावे, वह मन होता है। विचार, स्मरण आदि कार्यों में मन अन्य इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता है। जब कि मन की सहायता के बिना इन्द्रियां अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति नहीं करती हैं।

अन्य इन्द्रियों की भांति मन प्रत्यक्ष व व्यक्त नहीं है, अतः इसे इन्द्रिय नहीं कहकर ईषत् (किंचित्) इन्द्रिय कहते हैं। इसे नो-इन्द्रिय भी कहा जाता है।

मन, अनिन्द्रिय और अन्तःकरण एकार्थवाची हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों की भांति अपने विषय में निमित्त होने पर भी

अप्रत्यक्ष और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मन को इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय या ईषत् इन्द्रिय कहा जाता है। मन अन्य इन्द्रियों की भांति बाह्य में दिखाई नहीं देता है, अतः इसे अन्तःकरण भी कहते हैं।

1.7 मन के भेद (Two types of Mind) —

मन दो प्रकार का होता है–

(1) द्रव्य मन — जो हृदय स्थान में आठ पाखुँड़ी के कमल के आकार वाला है और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा (मन के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल) के स्कन्ध से उत्पन्न होता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म व इन्द्रिय अगोचर है। यह पुद्गल से रचित है, अतः अजीव है।

(2) भाव मन — मन सम्बन्धी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर आत्मा के संकल्प–विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार व चिन्तवन आदि रूप ज्ञान की विशेष अवस्था भावमन है। यह चेतना युक्त है, अतः जीव रूप है। भाव–मन ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान जीव का गुण होने से इसका आत्मा में अन्तर्भाव होता है। केवली के द्रव्य मन होता है, भाव मन नहीं होता है।

मन और आत्मा —

द्रव्य मन पौद्गलिक है और भाव मन आत्मप्रदेशों में प्राप्त जानने की शक्ति रूप है अर्थात् जीव है। एक से चार इन्द्रिय तक सभी जीवों में तथा कुछ पंचेन्द्रिय (असैनी) जीवों के मन नहीं होता है, किन्तु उनके आत्मा होती है।

1.8 इन्द्रिय मार्गणा के कथन को संक्षेप में जानें (Summary of *Indriya Margana*) —

जो इंद्र के समान हों उसे इंद्रिय कहते हैं। जिस प्रकार नव ग्रैवेयक आदि में रहने वाले इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि भेदों तथा स्वामी, भृत्य आदि विशेष भेदों से रहित होने के कारण किसी के वशवर्ती नहीं हैं, स्वतंत्र हैं उसी प्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियाँ भी अपने–अपने स्पर्श आदि विषयों में दूसरी रसना आदि की अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र हैं। यही कारण है कि इनको इंद्रों–अहिमन्द्रों के समान होने से इंद्रिय कहते हैं।

इंद्रियों के दो भेद — भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय।

भावेन्द्रियों के दो भेद — लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट हुई अर्थ ग्रहण की शक्ति रूप विशुद्धि को 'लब्धि' कहते हैं और उसके होने पर अर्थ — विषय के ग्रहण करने रूप जो व्यापार होता है। उसे 'उपयोग' कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद — निर्वृत्ति और उपकरण। आत्म प्रदेशों तथा आत्म सम्बद्ध शरीर प्रदेशों की रचना को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति आदि की रक्षा में सहायकों को उपकरण कहते हैं।

जिन जीवों के बाह्य चिन्ह और उनके द्वारा होने वाला स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन पाँच विषयों का ज्ञान हो उनको क्रम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इनके भी अवान्तर भेद अनेक हैं।

एकेन्द्रिय जीव के केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, त्रीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चतुरिन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

1.9 इंद्रियों का विषय (Object of Senses) —

एकेन्द्रिय के स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र चार सौ धनुष है और द्वीन्द्रिय आदि के वह दूना–दूना है।

चक्षु इंद्रिय के उत्कृष्ट विषय में विशेषता — सूर्य का भ्रमण क्षेत्र $510\frac{48}{11}$ योजन चौड़ा है। यह पृथ्वी तल से 800 योजन ऊपर जाकर है। वह इस जम्बूद्वीप के भीतर 180 योजन एवं लवण समुद्र में 330–48/61 योजन है अर्थात् समस्त गमन क्षेत्र 510–48/61 योजन या 20, 43, 147–13/61 मील है। इतने प्रमाण गमन क्षेत्र में सूर्य की 184 गलियाँ हैं। इन गलियों में सूर्य क्रमशः एक–एक गली में संचार करते हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप में दो सूर्य तथा दो चंद्रमा हैं।

1.10 चक्रवर्ती के चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय (Maximum Coverage Area of the Eye Sight of *Chakravarti*)—

जब सूर्य पहली गली में आता है तब अयोध्या नगरी के भीतर अपने भवन के ऊपर स्थित चक्रवर्ती सूर्य विमान में स्थित जिनबिम्ब का दर्शन करते हैं। इस समय सूर्य अभ्यंतर गली की 3,15,089 योजन परिधि को 60 मुहूर्त में पूरा करता है। इस गली में सूर्य निषध पर्वत पर उदित होता है, वहाँ से उसे अयोध्या नगरी के ऊपर आने में 9 मुहूर्त लगते हैं। जब जब वह 3,15,089 योजन प्रमाण उस वीथी को 60 मुहूर्त में पूर्ण करता है तब वह 9 मुहूर्त में कितने क्षेत्र को पूरा करेगा इस प्रकार त्रैराशिक करने पर योजन अर्थात् 1,89,05,34,000 मील होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि चक्रवर्ती की दृष्टि का विषय 47,263-7/20 योजन प्रमाण है यह चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है।

इंद्रियों का आकार—मसूर के समान चक्षु का, जव की नली के समान श्रोत्र का, तिल के फूल के समान घ्राण का तथा खुरपा के समान जिह्वा का आकार है। स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं।

1.11 एकेन्द्रियादि जीवों का प्रमाण (Quantum of Living-beings having Different Senses)—

स्थावर एकेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, शंख आदि द्वीन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, चिंउटी आदि त्रींद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, भ्रमर आदि चतुरिंद्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं और निगोदिया जीव अनंतानंत हैं अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति ये पाँच स्थावर और त्रस जीव असंख्यातासंख्यात हैं और जो वनस्पति के भेदों का दूसरा भेद साधारण है, वे साधारण वनस्पति जीव अनंतानंत प्रमाण हैं।

इंद्रियातीत—अर्हंत और सिद्ध जीव इंद्रियों के व्यापार से युक्त नहीं हैं, अवग्रह, ईहा आदि क्षयोपशम ज्ञान से रहित, इंद्रिय सुखों से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान और अनंत सुख से युक्त हैं। इंद्रियों के बिना भी आत्मोत्थ निराकुल सुख का अनुभव करने से वे पूर्णतया सुखी हैं।

1.12 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-इन्द्रिय मार्गणा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-द्रव्येन्द्रिय के भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3-मन के स्वरूप का विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 4-मन और आत्मा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

पाठ-2—काय-योग और वेद मार्गणा
(*Kaya, Yog* And *Ved Marganas*)

2.1 काय मार्गणा (*Kaya Margana*)—

काय का अर्थ सामान्य भाषा में शरीर होता है। लेकिन यहां पर इसका अर्थ त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय विशेष है। इस प्रकार जीव की पर्याय को काय कहते हैं। काय 6 प्रकार की है- 5 स्थावर व 1 त्रस।

5 स्थावर जीव हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक। इन पांचों के शरीर अलग-अलग जाति के होते हैं। पृथ्वी एक ठोस पदार्थ है जो खाने के अतिरिक्त अन्य काम आती है। जल तरल पदार्थ है जिससे प्यास बुझती है। अग्नि में भोजन आदि पकाने एवं भस्म करने की शक्ति है। वायु से श्वास लिया जाता है और वनस्पति खाने के काम आती है। इस प्रकार इन पाँचों की बनावट, स्वरूप व उपयोग अलग-अलग हैं। इस प्रकार इनकी 5 काय अलग-अलग जाति की हैं।

त्रसजीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस जीव कहलाते हैं। इनकी काय समान (रक्त, मांस, हड्डी आदि से) बनी होने के कारण ये चारों त्रस कार्य के अन्तर्गत आते हैं।

सिद्ध भगवान कायरहित होते हैं।

कायमार्गणा का विशेष स्वरूप यहाँ देखें—

जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से आत्मा की जो पर्याय होती है उसे काय कहते हैं। उसके छह भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय।

पृथ्वी आदि नामकर्म के उदय से जीव का पृथ्वी आदि शरीर में जन्म होता है।

पाँच स्थावर काय के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। विशेष यह है कि वनस्पतिकाय के साधारण और प्रत्येक ये दो भेद होते हैं उसमें साधारण के बादर, सूक्ष्म दो भेद होते हैं, प्रत्येक वनस्पति के नहीं होते।

बादर नामकर्म के उदय से होने वाला शरीर बादर है। यह शरीर दूसरे का घात करता है और दूसरे से बाधित होता है।

सूक्ष्म नामकर्म के उदय से होने वाला शरीर सूक्ष्म है। यह न स्वयं दूसरे से बाधित होता है और न दूसरे का घात करता है। इन दोनों के शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमें बादर जीव आधार से रहते हैं और सूक्ष्म जीव सर्वत्र तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं अर्थात् सारे तीन लोक में भरे हुए हैं, ये अनंतानंत प्रमाण हैं।

2.2 वनस्पतिकाय के विशेष भेद (Special Types of Plant-body)—

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—प्रत्येक और साधारण। प्रत्येक के भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित।

जिनकी शिरा, संधि और पर्व अप्रगट हों, तोड़ने पर समान भंग हों, तन्तु न लगा रहे, छेदन करने पर भी पुनः वृद्धि हो जावे वे सप्रतिष्ठित वनस्पति हैं। सप्रतिष्ठित वनस्पति के आश्रित अनंत निगोदिया जीव रहते हैं। जिनमें से निगोदिया जीव निकल गये हैं वे वनस्पति अप्रतिष्ठित कहलाती हैं। आलू, अदरक, तुच्छ फल, कोंपल आदि सप्रतिष्ठित हैं। आम, नारियल, ककड़ी आदि अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् प्रत्येक वनस्पति का स्वामी एक जीव रहता है किन्तु उसके आश्रित जीवों से सप्रतिष्ठित जीवों का आश्रय न रहने से अप्रतिष्ठित कहलाती है।

2.3 साधारण वनस्पति (Ordinary Plant-bodied Living-beings)—

साधारण नामकर्म के उदय से जिस शरीर के स्वामी अनेक जीव होते हैं उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। इन

साधारण जीवों का साधारण ही आहार, साधारण ही श्वासोच्छ्वास होता है, इस साधारण शरीर में अनंतानंत जीव रहते हैं। इनमें जहाँ एक जीव मरता है वहाँ अनंतानंत जीवों का मरण हो जाता है और जहाँ एक जीव का जन्म होता है वहाँ अनंतानंत जीवों का जन्म होता है। एक निगोद शरीर में जीव द्रव्य की अपेक्षा सिद्धराशि से अनन्तगुणी हैं और निगोद शरीर की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण (सुई की नोंक के असंख्यातवें भाग) है।

2.4 निगोद के भेद (Types of Lowest-form of Living-beings)—

निगोद के नित्य निगोद और इतर निगोद से दो भेद हैं। जिसने अभी तक त्रस पर्याय नहीं पाई है अथवा भविष्य में भी नहीं पाएंगे वे नित्य निगोद हैं। किन्हीं के मत से अभी तक त्रस पर्याय नहीं पाई है किन्तु आगे पा सकते हैं अतः छह महीने आठ समय में उसमें से ही छह सौ आठ जीव निकलते हैं और यहाँ से इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष चले जाते हैं। जो निगोद से निकलकर चतुर्गति में घूम पुनः निगोद में गये हैं वे इतर या चतुर्गति निगोद हैं।

2.5 त्रस जीव (Mobile Living-beings)—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस हैं। उपपाद जन्म वाले और मारणांतिक समुद्घात वाले त्रस को छोड़कर बाकी के त्रस जीव त्रस नाली के बाहर नहीं रहते हैं।

2.6 किन-किन शरीर में निगोदिया जीव रहते हैं (Which bodies are occupied by *Nigodia Jeevas*)—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकायिक, केवली, आहारक, देव और नारकियों के शरीर में बादर निगोदिया जीव नहीं रहते हैं। शेष वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के शरीर में निगोदिया जीव भरे रहते हैं।

षट्कायिक जीवों का आकार—पृथ्वीकायिक का शरीर मसूर के समान, जलकायिक का जल बिन्दु सदृश, अग्निकायिक जीव का सुइयों के समूह सदृश, वायुकायिक का ध्वजा सदृश होता है। वनस्पति और त्रसों का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावड़ी के द्वारा भार ढोता है उसी प्रकार यह जीव कायरूपी कावड़ी के द्वारा कर्मभार को ढो रहा है।

यथा मलिन स्वर्ण अग्नि द्वारा सुसंस्कृत होकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के मल से रहित हो जाता है तथैव ध्यान के द्वारा यह जीव भी शरीर और कर्मबंध दोनों मल से रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

यद्यपि यह काय मल का बीज और मल की योनि स्वरूप अत्यंत निंद्य है, कृतघ्न सदृश है फिर भी इसी काय से रत्नत्रय रूपी निधि प्राप्त की जा सकती है अतः इस काय को संयम रूपी भूमि में बो करके मोक्ष फल को प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वर्गादि अभ्युदय तो भूसे के सदृश स्वयं ही मिल जाते हैं। इसलिये संयम के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए।

2.7 योग मार्गणा (*Yog Margana*)—

मन, वचन, काय की क्रिया के निमित्त से आत्मा में जो हलन-चलन या परिस्पंदन हो, वह योग मार्गणा है। इसके 15 भेद हैं।

मन, वचन, काय की क्रिया के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन (हलन-चलन) को **योग** कहते हैं। जिस प्रकार वायु के वेग से पानी में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार सोचने, बोलने आदि कोई भी क्रिया करने से हमारी आत्मा में भी हलन-चलन होता है। यही योग कहलाता है। इस हलन-चलन से कर्म-वर्गणाएं और नोकर्म-वर्गणाएं आत्मा के साथ बंध को प्राप्त होती हैं। कार्मण वर्गणा लोक में ठसाठस भरी हुई हैं जैसे घड़े में घी भरा रहता है। योग-शक्ति के द्वारा

ये कार्मण वर्गणाएं ही कर्म के रूप में आत्मा से बंधती हैं। इस प्रकार आत्मा में हलन-चलन होने से ही कर्मों का आस्रव होता है।

कम योग होने से कम और अधिक योग होने से अधिक कार्मण वर्गणाओं का ग्रहण होता है। ग्रहण की गई इन वर्गणाओं का कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों में स्वयमेव बंटवारा हो जाता है। जैसे भोजन के पेट में जाने पर उसका बंटवारा रक्त, मांस, मज्जा आदि में स्वयमेव हो जाता है।

2.8 योग के कई प्रकार से भेद किये गये हैं। प्रथम प्रकार से योग के 2 भेद निम्न प्रकार हैं-

(1) भाव योग—कर्म, नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्त रूप आत्मा की शक्ति विशेष को भाव योग कहते हैं।

(2) द्रव्य योग—मन, वचन, काय की क्रिया के कारण जो आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, वह द्रव्य योग कहलाता है।

यद्यपि भाव योग एक प्रकार का होता है, फिर भी निमित्त की अपेक्षा से इसके 3 भेद और 15 उपभेद किये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

(1) मनोयोग—जब आत्मा का प्रयत्न मन की ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त हो जाने से उसे मनोयोग कहते हैं। इसके 4 उप-भेद हैं—

1. सत्य मनोयोग 2. असत्य मनोयोग
3. उभय मनोयोग 4. अनुभय मनोयोग

(2) वचन योग—जब आत्मा के प्रयत्न का झुकाव वचन की ओर होता है तो उसे वचन योग कहते हैं। यह भी चार प्रकार का होता है—

1. सत्य वचन योग 2. असत्य वचन योग
3. उभय वचन योग 4. अनुभय वचन योग

(3) काय योग—जब आत्मा के प्रयत्न का झुकाव काय की ओर होता है, तो उसे काय योग कहते हैं। यह सात प्रकार का होता है—

1. औदारिक काय योग 2. औदारिक मिश्र काय योग
3. वैक्रियिक काय योग 4. वैक्रियिक मिश्र काय योग
5. आहारक काय योग 6. आहारक मिश्र काय योग
7. कार्मण काय योग

एकेन्द्रिय जीवों के केवल काय योग होता है, द्वि-इन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के काय व वचन योग होते हैं तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के तीनों योग होते हैं। अयोग केवली के कोई योग नही होता है। एक समय में एक योग ही होता है।

तीनों योगों में काय योग स्थूल योग है, उससे सूक्ष्म वचन योग है और उससे भी सूक्ष्म मनो योग है।

2.9 ये तीनों शुभ व अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं-

(क) शुभ योग—जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है, वह शुभ योग है। पंच परमेष्ठी की पूजा, स्वाध्याय आदि षट्-आवश्यक कार्य, प्राणियों के प्रति दया भाव, उनकी रक्षा का भाव, सत्य बोलने का भाव, परधन-सम्पत्ति हरण न करने का भाव आदि शुभ परिणामों के निमित्त से होने वाला योग शुभ योग है। इससे पुण्यास्रव होता है।

(ख) अशुभ योग—जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है, वह अशुभ योग है। ईर्ष्या करना, मारने का विचार करना; असत्य, कठोर वचन बोलना; हिंसा, चोरी, मायाचारी करना आदि परिणामों के निमित्त से होने वाला योग

अशुभ योग है। इससे पापास्रव होता है।

यहाँ गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार योगमार्गणा का सार दृष्टव्य है-

पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने की कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं अर्थात् आत्मा की अनंत शक्तियों में से एक योग शक्ति भी है, उसके दो भेद हैं—भावयोग और द्रव्ययोग।

कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत जीव की शक्ति भावयोग और जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन द्रव्ययोग है।

सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के निमित्त से चार मन के और चार वचन के ऐसे आठ योग हुए और औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण ऐसे सात काय के ऐसे मन, वचन, काय संबंधी पंद्रह योग होते हैं।

2.10 सत्य के दश भेद हैं (Ten Kinds of Truth)—

जनपद सत्य	—जो व्यवहार में रूढ़ हों जैसे—भक्त, भात, चोरु आदि
सम्मति सत्य	—जैसे—साधारण स्त्री को देवी कहना
स्थापना सत्य	—प्रतिमा को चंद्रप्रभ कहना
नाम सत्य	—जिनदत्त कहना
रूपसत्य	—बगुले को सफेद कहना
प्रतीतिसत्य	—बेल को बड़ा कहना
व्यवहार सत्य	—सामग्री संचय करते समय भात पकाता हूँ, ऐसा कहना
सम्भावना सत्य	—इंद्र जम्बूद्वीप को पलट सकता है ऐसा कहना
भावसत्य	—शुष्क पक्व आदि को प्रासुक कहना
उपमा सत्य	—पल्योपम आदि से प्रमाण बताना। ये दस प्रकार के सत्य वचन हैं।

इनसे विपरीत असत्य वचन हैं। जिनमें दोनों मिश्र हों वे उभय वचन हैं एवं जो न सत्य हों न मृषा हों वे अनुभय वचन हैं। अनुभय वचन के नव भेद हैं—

आमंत्रणी—यहाँ आओ, **आज्ञापनी**—यह काम करो, **याचनी**—यह मुझको दो, **आपृच्छनी**—यह क्या है? **प्रज्ञापनी**—मैं क्या करूँ? **प्रत्याख्यानी**—मैं यह छोड़ता हूँ, **संशयवचनी**—यह बलाका है या पताका, **इच्छानुलोम्नी**—मुझको ऐसा होना चाहिए और **अनक्षरगता**—जिसमें अक्षर स्पष्ट न हों, क्योंकि इनके सुनने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों अंशों का ज्ञान होता है। द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक अनक्षर भाषा है और सैनी पंचेन्द्रिय की आमंत्रणी आदि भाषाएँ होती हैं।

केवली भगवान के सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण ये सात योग होते हैं। शेष संसारी जीवों में यथासम्भव योग होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योगरहित अयोगी होते हैं।

औदारिक, औदारिक मिश्रयोग तिर्यंच व मनुष्यों के होते हैं। वैक्रियक मिश्र देव तथा नारकियों के होते हैं। आहारक, आहारक मिश्र छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के ही कदाचित् किन्हीं के हो सकता है। प्रमत्तविरत मुनि को किसी सूक्ष्म विषय में शंका होने पर या अकृत्रिम जिनालय की वंदना के लिए असंयम के परिहार करने हेतु आहारक पुतला निकलता है और यहाँ पर केवली के अभाव में अन्य क्षेत्र में केवली या श्रुतकेवली के निकट जाकर आता है और मुनि को समाधान हो जाता है।

आहारक ऋद्धि और विक्रियाऋद्धि का कार्य एक साथ नहीं हो सकता है, बादर अग्निकायिक, वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भी विक्रिया हो सकती है। देव, भोगभूमिज, चक्रवर्ती पृथक विक्रिया से शरीर आदि बना लेते हैं किन्तु नारकियों में अपृथक विक्रिया ही है। वे अपने शरीर को ही आयुध, पशु आदि रूप बनाया करते हैं। देव मूल शरीर को वहीं स्थान पर छोड़कर विक्रिया शरीर से ही जन्मकल्याणक आदि में आते हैं, मूल शरीर से कभी नहीं आते हैं। कार्मणयोग विग्रहगति में एक, दो या तीन समय तक होता है और समुद्घात केवली के होता है।

जो योग रहित, अयोगीजिन अनुपम और अनंत बल से युक्त हैं वे अ इ उ ऋ ऌ इन पंच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण मात्र काल में सिद्ध होने वाले हैं, उन्हें मेरा नमस्कार होवे।

2.11 वेद मार्गणा (*Ved* or Gender *Margana*)—

जीव की मैथुन या काम-सेवन की इच्छा वेद कहलाती है। जिसके द्वारा वेद भावों का निर्धारण हो, वह वेद मार्गणा है। वेद के तीन भेद हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक।

वेद—

जीव में पाये जाने वाले स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व के भाव वेद कहलाते हैं। जीव की काम-सेवन (मैथुन) की इच्छा वेद है। इसको लिंग भी कहते हैं।

वेद के भेद—वेद के तीन भेद निम्न हैं—

1. **पुरुष वेद** - जिस कर्म के उदय से जीव में स्त्री के साथ काम-सेवन के भाव उत्पन्न होते हैं।

2. **स्त्री वेद** - जिस कर्म के उदय से जीव में पुरुष के साथ काम-सेवन के भाव उत्पन्न होते हैं।

3. **नपुंसक वेद** - जिस कर्म के उदय से जीव में पुरुष और स्त्री के साथ काम-सेवन के भाव उत्पन्न होते हैं।

कर्म-भूमिज मनुष्य व पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तीनों वेद होते हैं। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों में तथा देवों में दो वेद (स्त्री और पुरुष) होते हैं। नारकी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवों में केवल एक वेद (नपुंसक) होता है।

2.12 उपरोक्त तीनों वेद दो-दो प्रकार के होते हैं (All Genders are of Two Types)-

1. **द्रव्य वेद** - नाम कर्म के उदय से शरीर में स्त्री, पुरुष के अनुरूप जो अंगोपांगों (योनि, मेहन आदि बाह्य चिन्हों) की रचना होती है, वह द्रव्य वेद है।

2. **भाव वेद** - स्त्री की पुरुष अभिलाषा, पुरुष की स्त्री अभिलाषा और नपुंसक की दोनों (स्त्री-पुरुष) की अभिलाषा भाव वेद कहलाती है।

देव, नारकी, भोग-भूमियाँ और सम्मूर्च्छन जीव के जो द्रव्य वेद होता है, वही भाव वेद होता है। शेष मनुष्यों व तिर्यंचों के द्रव्य व भाव वेद में विषमता भी पाई जाती है।

2.13 वेद मार्गणा का विशेष वर्णन इस प्रकार है (Special Description of Gender Investigation)-

पुरुषादि के उस रूप परिणाम को या शरीर चिन्ह को वेद कहते हैं। वेदों के दो भेद हैं—भाववेद, द्रव्यवेद।

मोहनीय कर्म के अंतर्गत वेद नामक नोकषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है और निर्माण नामकर्म सहित आंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है अर्थात् तद्रूप परिणाम को भाववेद और शरीर की रचना को द्रव्यवेद कहते हैं। ये दोनों वेद कहीं समान होते हैं और कहीं विषम भी होते हैं।

2.14 वेद के तीन भेद होते हैं (Three Kinds of Genders)—

पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद। नरकगति में द्रव्य और भाव दोनों वेद नपुंसक ही हैं। देवगति में पुरुष, स्त्री रूप दो वेद

हैं जिनके जो द्रव्यवेद है वही भाववेद रहता है यही बात भोगभूमिजों में भी है।

कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्य में विषमता पाई जाती है। किसी का द्रव्यवेद पुरुष है तो भाववेद पुरुष, स्त्री या नपुंसक कोई भी रह सकता है, हाँ! जन्म से लेकर मरण तक एक ही वेद का उदय रहता है, बदलता नहीं है। द्रव्य से पुरुषवेदी आदि भाव से स्त्रीवेदी या नपुंसकवेदी है फिर भी मुनि बनकर छठे-सातवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर मोक्ष जा सकते हैं। किन्तु यदि द्रव्य से स्त्रीवेद है और भाव से पुरुषवेद है तो भी उसके पंचम गुणस्थान के ऊपर नहीं हो सकता है। अतएव दिगम्बर आम्नाय में स्त्री मुक्ति का निषेध है।

पुरुष वेद—जो उत्कृष्ट गुण या भोगों के स्वामी हैं, लोक में उत्कृष्ट कर्म को करते हैं, स्वयं उत्तम हैं वे पुरुष हैं।

स्त्रीवेद—जो मिथ्यात्व, असंयम आदि से अपने को दोषों से ढके और मृदु भाषण आदि से पर के दोषों को ढके वह स्त्री है।

नपुंसकवेद—जो स्त्री और पुरुष इन दोनों लिंगों से रहित हैं, ईंट के भट्टे की अग्नि के समान कषाय वाले हैं वे नपुंसक हैं।

स्त्री और पुरुष का यह सामान्य लक्षण है, वास्तव में रावण आदि अनेक पुरुष भी दोषी देखे जाते हैं और भगवान की माता, आर्यिका महासती सीता आदि अनेक स्त्रियाँ महान् श्रेष्ठ देखी जाती हैं। अतः सर्वथा एकान्त नहीं समझना चाहिए।

जो तृण की अग्निवत् पुरुषवेद की कषाय, कंडे की अग्निवत् स्त्रीवेद की कषाय और अवे की अग्नि के समान नपुंसकवेद की कषाय से रहित अपगतवेदी हैं, वे अपनी आत्मा से ही उत्पन्न अनंत सुख को भोगते रहते हैं।

2.15 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-काय मार्गणा का स्वरूप बताइये ? इसके भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-निगोद के भेदों को समझाइये ?

प्रश्न 3-योगमार्गणा किसे कहते हैं ? इसके 15 भेदों के नाम बताइये ?

प्रश्न 4-वेद के तीन भेदों को समझाइये ?

पाठ 3—कषाय और ज्ञान मार्गणा (*Kashaya Margana* And *Gyan Margana*)

जो आत्मा को दुःख दे अथवा आत्मा के चारित्र गुण का घात करे वह कषाय है। इसके भेद-उपभेद 25 होते हैं।

3.1 कषाय (Passions)—

जो भाव आत्मा को कषे अर्थात् दुःख दे, वह कषाय है। ये मलिन भाव जीवन को कषायला कर देते हैं, अतः इन्हें कषाय कहते हैं। कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूप कलुषता कषाय कहलाती है; क्योंकि यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कषती है। इस प्रकार आत्मा के कलुष परिणाम (खोटे भाव) ही कषाय हैं।

3.2 कषाय के भेद (Kinds of Passions)—

कषाय के मूल भेद 4 हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें क्रोध व मान द्वेष रूप हैं तथा माया व लोभ राग रूप हैं। इन चारों कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद हैं- अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। विषयों के प्रति आसक्ति (तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर) की अपेक्षा से ये चार भेद किये गये हैं। यह आसक्ति भी क्रोध, मान, माया, लोभ के द्वारा ही व्यक्त होती है, इसलिये इन चारों के क्रोध आदि के भेद से चार-चार भेद करके कुल 16 भेद किये गये हैं।

किंचित् अर्थात् अल्प कषाय को नोकषाय (अकषाय) कहते हैं। इसके नौ भेद हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुष-वेद और नपुंसक-वेद। इस प्रकार कषायों के 25 भेद हो जाते हैं।

चार मुख्य कषायें निम्नानुसार हैं—

(1) क्रोध कषाय—आत्मा का स्वभाव क्षमा है और इसका उल्टा अर्थात् आत्मा का विभाव क्रोध है। यह आत्मा का अहित करती है। 'स्व' व 'पर' का घात करने वाले क्रूर परिणाम क्रोध कषाय हैं। गुस्सा करने से दूसरे का बुरा होने से पूर्व स्वयं का बुरा हो जाता है। इस कषाय के कारण नरक व तिर्यंच गति के दुःख भोगने पड़ते हैं। क्रोध करने से कमठ और द्वीपायन मुनि ने दुःख उठाया था।

(2) मान कषाय—दूसरे के प्रति तिरस्कार, अहंकार रूप भाव होना अर्थात् बल, विद्या, तप, जाति आदि का मद होने से दूसरे के प्रति नमन भाव नहीं रखना मान (अभिमान) कषाय है। इस कषाय के कारण त्रस व स्थावर गतियों में भटकना पड़ता है। रावण और कंस ने इस कषाय के कारण अनेक दुःख उठाये थे।

(3) माया कषाय—माया का अर्थ मायाचारी करना है। छल कपट करना, दूसरे को धोखा देना अथवा मन में कुछ और, वचन में कुछ और, करनी में कुछ और होना माया कषाय है। थोड़े मूल्य की वस्तुओं को महंगी वस्तुओं में मिलाना, तौल के बाँट आदि कम या अधिक वजन के होना, अपने दोष छिपाना आदि माया कषाय में ही आते हैं। मायाचारी करने से तिर्यंच गति मिलती है। मृदुमति मुनि के द्वारा मायाचारी करने के फलस्वरूप उन्हें तिर्यंच (त्रिलोकमंडल हाथी) पर्याय मिली।

(4) लोभ कषाय—धन, दौलत, सम्पत्ति आदि की तीव्र लालसा होना, लालच होना अथवा तृष्णा होना लोभ कषाय है। इस कषाय के कारण ही मनुष्य सभी प्रकार के पाप करता है, इसी वजह से इस कषाय को पाप का बाप कहा जाता है। इस कषाय के कारण नरकादि गतियों में जाना पड़ता है। लोभ के कारण सेठ फणहस्त मरकर सर्प बना।

3.3 कषायों के 16 भेद (Sixteen types of Passions)—

उपरोक्त चारों कषायों के प्रत्येक के चार-चार उपभेद निम्न प्रकार हैं—

1. अनन्तानुबंधी 2. अप्रत्याख्यान 3. प्रत्याख्यान 4. संज्वलन

क्रोध कषाय के 4 उप-भेद निम्न प्रकार हैं—

(1) अनन्तानुबंधी क्रोध कषाय—अनन्त नाम संसार का है और जो इसका कारण है, वह अनन्तानुबन्धी है। अनन्त संसार का अनुबन्ध करने वाले भाव को अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जो कषाय संसार के कारणभूत मिथ्यात्व को बांधती है, वह अनन्तानुबंधी कषाय है। तीव्र कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी नहीं है, अपितु उस वासना का नाम है जो बार-बार समझाने पर भी नम्र नहीं होती है। यह कषाय सम्यक्तव व चारित्र दोनों का घात करती है। इस कषाय के उदय से जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता है और इस कषाय को समाप्त करके ही जीव अपना कल्याण कर सकता है। यदि क्रोध कषाय छः माह से अधिक अवधि तक टिक गई तो वह अनन्तानुबंधी हो जाती है। यह कषाय पत्थर पर पड़ी रेखा के समान है जो जल्दी मिटती नहीं है। इस कषाय की बहुलता से जीव नरक गति को प्राप्त करता है।

(2) अप्रत्याख्यान क्रोध कषाय—जो आत्मा के एकदेश चारित्र को घाते अर्थात् जिसके उदय से अणुव्रत धारण नहीं किये जा सकें, वह अप्रत्याख्यान कषाय है। इसका अभाव होने पर ही जीव संयम धारण कर सकता है। यदि कषाय 15 दिन से अधिक (छः माह से कम) टिक जाती है तो वह कषाय अप्रत्याख्यान प्रकृति की हो जाती है। यह कषाय पृथ्वी पर खींची गई रेखा के समान है जिसे कठिनाई से मिटाया जा सकता है। इस कषाय की बहुलता से जीव तिर्यंच गति को प्राप्त करता है।

(3) प्रत्याख्यान क्रोध कषाय—जिस कषाय के उदय से जीव महाव्रतों को धारण नहीं कर सके वह प्रत्याख्यान कषाय है। यह कषाय मुनि नहीं बनने देती है। यह कषाय अन्तर्मुहूर्त से 15 दिन तक ही रहती है, अधिक हो जाने पर अप्रत्याख्यान हो जाती है। यह धूल में खींची गई रेखा के समान होती है। इसकी बहुलता से मनुष्य गति मिलती है।

(4) संज्वलन क्रोध कषाय—जिसके सद्भाव से संयम बना रहता है लेकिन जीव के यथाख्यात चारित्र का घात होता है, वह संज्वलन क्रोध कषाय है। संज्वलन क्रोध कषाय अन्तर्मुहूर्त तक रहती है। इसका अभाव करके जीव बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करता है। यह कषाय जल में खींची रेखा के समान है जो बहुत शीघ्र ही मिट जाती है। इस कषाय के कारण जीव यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं करता है और देव गति का पात्र होता है।

जिस प्रकार क्रोध कषाय के 4 उपभेद (उपरोक्तानुसार) हैं, इसी प्रकार शेष तीन कषायों मान, माया, और लोभ के भी 4-4 भेद होते हैं। इस प्रकार चारों कषायों के 16 भेद हुए।

3.4 नो-कषाय (या ईषत् कषाय या अकषाय) (Subsidiary/Quasi Passions)—

जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों से प्रेरित हैं वे नो-कषाय (ईषत् कषाय या अकषाय) कहलाती हैं। ईषत् का अर्थ अल्प (किंचित्) होता है। ये अल्प फल प्रदान करती हैं और दीर्घ काल तक नहीं रहती हैं। इसी वजह से इन्हें ईषत् अर्थात् अल्प कषाय कहते हैं। कषायों के पूर्णतः नष्ट होने के पूर्व ही ये नष्ट हो जाती हैं तथा कषायों के साथ ही उदय में आती हैं, अलग से नहीं।

नो-कषाय के 9 भेद निम्न हैं—

(1) हास्य—जिस कर्म के उदय से जीव के हंसी रूप भाव उत्पन्न होते हैं। हंसी का भाव हास्य है।

(2) रति—जिस कर्म के उदय से जीव के इन्द्रिय विषयों, धन, परिवार आदि में विशेष प्रीति हो। भोगों में आसक्ति होना तथा जीव का दूसरे पर प्रेम होना रति है।

(3) अरति—जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयों, धन परिवार आदि में अप्रीति हो। अनिष्टताओं से दूर हटने का भाव तथा पदार्थों में अप्रीति अरति है।

(4) शोक—जिस कर्म के उदय से शोक या चिन्ता उत्पन्न हो। इष्ट पदार्थों के नष्ट हो जाने या वियोग हो जाने पर सोचना/विचारना शोक है।

(5) भय—जिस कर्म के उदय से भय का कारण मिलते ही जीव भयभीत हो जाता है। अनिष्टताओं से डरने का भाव भय है। यह भय सात प्रकार का होता है - इहलोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक।

(6) जुगुप्सा—जिस कर्म के उदय से दूसरे के प्रति घृणा या ग्लानि उत्पन्न हो। ग्लानि व घृणा का भाव जुगुप्सा है।

(7) स्त्री-वेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ काम-सेवन का भाव उत्पन्न होता है।

(8) पुरुष वेद—जिस कर्म के उदय से जीव में स्त्री के साथ काम-सेवन का भाव उत्पन्न होता है।

(9) नपुंसक वेद—जिस कर्म के उदय से जीव में स्त्री और पुरुष दोनों के साथ काम-सेवन का भाव उत्पन होता है।

यद्यपि नोकषाय 9 प्रकार की होती हैं, मगर एक काल में बन्ध 5 का ही हो सकता है। 3 वेद में से 1, रति-अरति में से 1, तथा हास्य-शोक में से 1 का ही एक समय में बन्ध हो सकता है। नोकषायों में से अरति, शोक, भय व जुगुप्सा तो द्वेष रूप हैं और शेष राग रूप हैं।

साधना पथ पर बढ़ने हेतु जीव को दर्शन मोहनीय कर्म की तीन (मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व व सम्यक्त्व) तथा चारित्र मोहनीय कर्म की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) अर्थात् कुल 7 प्रकृतियों का उपशम तथा क्षयोपयशम करके सम्यक्तव प्राप्त करना चाहिए। उसके बाद परिणामों की विशुद्धि से अप्रत्याख्यानावरण कषायों का अनुदय करके व्रतों को धारण कर श्रावक बनना चाहिए। तदुपरान्त परिणामों की विशुद्धि द्वारा प्रत्याख्यानावरण कषाय का अनुदय करके मुनिपद सकल चारित्र धारण करना चाहिए। इस पंचम काल में यहाँ से आगे बढ़ना सम्भव नहीं है।

3.5 कषाय : सुख-दुःख का मूल कारण (Passion : Basic Cause of Pleasure and Sorrow)—

जीव स्वयं ही कषाय (राग-द्वेष आदि) करके सुखी-दुःखी होता है। अन्य कोई पदार्थ उसे सुखी-दुःखी नहीं कर सकता है। वे तो निमित्त मात्र हैं। जैसे किसी ने मुझे गाली दी और मैंने अनिष्ट बुद्धि करके उस व्यक्ति पर मान-कषाय के वशीभूत होकर क्रोध किया और उसके साथ गाली गलौच या मारपीट की। यदि मैं मान कषाय के वशीभूत नहीं होकर अपने भाव नहीं बिगाड़ता और अपने परिणाम समता के रखता तो मुझे दुःख नहीं होता। इसमें वस्तुतः दुःख का कारण मेरी मान-कषाय ही है। गाली देने वाला तो निमित्त मात्र है। जीव का भला-बुरा तो उसके स्वयं के परिणामों से होता है। बाहरी तौर पर तो ऐसा लगता है कि गाली देने वाले ने मेरा अपमान करके मुझे दुःखी किया। मगर वास्तविकता यही है कि स्वयं की मान-कषाय (मान पाने की इच्छा) के कारण मुझे दुःख हुआ। इस प्रकार सुख-दुःख का मूल कारण हमारी अपनी कषाय ही है। जीव के जितनी अधिक कषाय होगी, वह उतना ही अधिक दुःखी होगा। कषाय के सद्भाव से दुःख और अभाव से सुख मिलता है।

3.6 ज्ञान मार्गणा (*Gyan* or Knowledge *Margana*)—

पदार्थों को जानने वाले आत्मा के गुण को ज्ञान मार्गणा कहते हैं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव से यह सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यात्व के उदय से यह मिथ्या ज्ञान हो जाता है। ज्ञान के 8 भेद हैं- 5 प्रकार का सम्यग्ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान) तथा 3 प्रकार का मिथ्याज्ञान (कुमति, कुश्रुत और विभंग-अवधिज्ञान)।

3.7 यहाँ ज्ञानमार्गणा का स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड के आधार से प्रस्तुत है-

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा केवल। इनमें से आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और केवलज्ञान क्षायिक है तथा मति, श्रुत दो ज्ञान परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष हैं।

आदि के तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

मति अज्ञान—दूसरे के उपदेश के बिना ही विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मति अज्ञान कहते हैं।

श्रुत अज्ञान—चोर शास्त्र, हिंसा शास्त्र, महाभारत, रामायण आदि परमार्थ-शून्य शास्त्र और उनका उपदेश कुश्रुतज्ञान है।

विभंग ज्ञान—विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान या कुअवधि ज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान—इंद्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। उसके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद हैं। इनको पाँच इंद्रिय और मन से गुणा करके बहु आदि बारह भेदों से गुणा कर देने से 288 भेद होते हैं तथा व्यंजनावग्रह को चक्षु और मन बिना चार इंद्रिय से और बहु आदि बारह भेद से गुणा करने से 48 ऐसे 288+48=336 भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है।

इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य ऐसे दो भेद हैं। इनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य हैं।

3.8 दूसरी तरह से श्रुतज्ञान के भेद हैं (Kinds of Scriptural Knowledge on Different Ground)—

पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्व समास इस तरह श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं। इनको ढकने वाले आवरण कर्म का फल इस ज्ञान में नहीं होता अन्यथा ज्ञानोपयोग का अभाव होकर जीव का ही अभाव हो जावेगा। वह हमेशा प्रकाशमान, निरावरण रहता है अर्थात् इतना ज्ञान का अंश सदैव प्रगट रहता है।

इसके आगे पर्यायसमास के बाद अक्षर ज्ञान आता है यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुत केवल रूप है। इसमें एक कम एकट्ठी का भाग देने से जो लब्ध आया उतना ही अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण है।

जो केवलज्ञान से जाने जाएँ किन्तु जिनका वचन से कथन न हो सके ऐसे पदार्थ अनंतानंत हैं। उनके अनंतवें भाग प्रमाण पदार्थ वचन से कहे जा सकते हैं, उन्हें प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतवां भाग श्रुत निरूपित है।

अक्षर ज्ञान के ऊपर वृद्धि होते-होते अक्षर समास, पद, पद समास आदि बीस भेद तक पूर्ण होते हैं। इनमें जो उन्नीसवां "पूर्व" भेद है उसी के उत्पाद पूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

इन बीस भेदों में प्रथम के पर्याय, पर्याय समास ये दो ज्ञान अनक्षरात्मक हैं और अक्षर से लेकर अठारह भेद तक ज्ञान अक्षरात्मक हैं। ये अठारह भेद द्रव्य श्रुत के हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भाव श्रुत। उसमें शब्दरूप और ग्रंथरूप द्रव्यश्रुत हैं और ज्ञानरूप सभी भावश्रुत हैं।

ग्रंथरूप श्रुत की विवक्षा से आचारांग आदि द्वादश अंग और उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व रूप भेद होते हैं अथवा अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट में दो भेद करने से अंग प्रविष्ट के बारह और अंग बाह्य के सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक होते हैं।

3.9 द्वादशांग के नाम (Names of Twelve Parts of Scriptural Knowledge)—

(1) आचारांग
(2) सूत्रकृतांग
(3) स्थानांग
(4) समवायांग
(5) व्याख्या-प्रज्ञप्ति
(6) धर्मकथांग
(7) उपासकाध्ययनांग
(8) अंतःकृद्दशांग
(9) अनुत्तरोपपादिकदशांग
(10) प्रश्नव्याकरण
(11) विपाकसूत्र
(12) दृष्टिवादांग

बारहवें दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। परिकर्म के पाँच भेद हैं—चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र और प्रथमानुयोग में भेद नहीं हैं। पूर्वगत के चौदह भेद हैं। चूलिका के पाँच भेद हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता।

3.10 चौदह पूर्वों के नाम (Names of Fourteen *Purvas*)—

(1) उत्पादपूर्व
(2) अग्रायणीय
(3) वीर्यप्रवाद
(4) अस्ति-नास्तिप्रवाद
(5) ज्ञानप्रवाद
(6) सत्यप्रवाद
(7) आत्मप्रवाद
(8) कर्मप्रवाद
(9) प्रत्याख्यान
(10) विद्यानुवाद
(11) कल्याणवाद
(12) प्राणवाद
(13) क्रियाविशाल
(14) लोकबिन्दुसार

द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार पाँच होते हैं। 1,12,83,58,005 हैं।

3.11 अंग बाह्यश्रुत के भेद (Kinds of *Anga-Bahya* Scriptural Knowledge)—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अंग बाह्यश्रुत के चौदह भेद हैं।

''ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। दोनों में अंतर यही है श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।''

3.12 अवधिज्ञान (Clairvoyance or Limiting Knowledge)—

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसका विषय सीमित हो वह अवधिज्ञान है। उसके भव प्रत्यय, गुण प्रत्यय यह दो भेद हैं। प्रथम भवप्रत्यय देव नारकी और तीर्थंकरों के होता है तथा द्वितीय गुण- प्रत्यय मनुष्य और तिर्यंचों के भी हो सकता है।

3.13 मनःपर्यय ज्ञान (Telepathic Knowledge)—

चिंतित, अचिंतित और अर्धचिंतित इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है। यह ज्ञान वृद्धिंगत चारित्र वाले किन्हीं महामुनि के ही होता है। इसके ऋजुमति, विपुलमति नाम के दो भेद हैं। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न होता है, बाहर नहीं।

3.14 केवलज्ञान (Perfect Knowledge or Omniscience)—

यह ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, सम्पूर्ण द्रव्य की त्रैकालिक सम्पूर्ण पर्यायों को विषय करने वाला युगपत् लोकालोक प्रकाशी होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये ही सारे पुरुषार्थ किये जाते हैं।

(आज मति, श्रुत ये दो ही ज्ञान हम और आपको हैं। इनमें भी श्रुतज्ञान में द्वादशांग का वर्तमान में अभाव हो चुका है। हाँ, मात्र बारहवें अंग में किंचित् अंश रूप से षट्खंडागम ग्रंथराज विद्यमान है तथा आज जितने भी शास्त्र हैं वे सब उस द्वादशांग के अंशभूत होने से उसी के सार रूप हैं। जैसे कि गंगानदी का जल एक कटोरी में निकालने पर भी वह गंगा जल ही है। अतः श्री कुंदकुंददेव आदि सभी के वचन सर्वज्ञतुल्य प्रमाणभूत हैं। ऐसा समझकर द्वादशांग की पूजा करते हुए उपलब्ध श्रुत का पूर्णतया आदर, श्रद्धान और अभ्यास करके, तदनुकूल प्रवृत्ति करके संसार की स्थिति को कम कर लेना चाहिए।)

3.15 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1-कषाय किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख भेद बताइये ?

प्रश्न 2-नो कषाय (ईषत् कषाय) कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 3-ज्ञान मार्गणा का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 4-ज्ञान के प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 5-द्वादशांगों के नाम बताइये ?

पाठ 4—संयम, दर्शन, लेश्या और भव्यत्व मार्गणा
(*Sanyam, Darshan, Leshya* and *Bhavyatva Margana*)

5 व्रत व 5 समितियों का पालन करना, क्रोध आदि 4 कषायों का त्याग करना, 5 इन्द्रियों को वश में करना संयम है। इसके 7 भेद हैं-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात, संयमासंयम, असंयम।

4.1 संयम (Restraint)—

सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण संयम है। 5 महाव्रत, 5 समितियों का पालन करना, क्रोध आदि 4 कषाय नहीं करना, 5 इन्द्रियों को वश में रखना, दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण होना संयम के सामान्य लक्षण हैं। 13 प्रकार के चारित्र (5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति) का पालन करना संयम है।

संयम दो प्रकार का होता है-

प्राणी संयम—सभी जीवों (स्थावर व त्रस) की रक्षा करना प्राणी संयम है।

इन्द्रिय संयम—पांचों इन्द्रियों और मन को वश में करना इन्द्रिय संयम है।

4.2 संयम के सात भेद (Seven Types of Restraints)—

(1) सामायिक संयम—मन, वचन व काय की हिंसाजनक क्रियाओं का त्याग करना तथा सब जीवों में समता भाव रखना, सुख-दुःख में समान भाव रखना, शुभ-अशुभ विकल्पों का त्याग करना सामायिक संयम है।

(2) छेदोपस्थापना संयम—सामायिक से डिग जाने पर शुद्ध आत्मा के अनुभव में लगना अथवा प्रमादवश व्रत आदि में दोष लगने पर प्रायश्चित्त आदि से उसका शोधन कर पुनः व्रतों में स्थिर हो जाना छेदोपस्थापना संयम है।

(3) परिहार विशुद्धि संयम—प्राणी वध की निवृत्ति को परिहार कहते हैं। चारित्र की जिस विशुद्धि से हिंसा का पूर्णरूपेण परिहार हो जाता है, वह परिहार विशुद्धि संयम है।

(4) सूक्ष्म साम्पराय संयम—अपनी आत्मा को कषाय से रहित करते-करते जब सूक्ष्म-कषाय नाम मात्र की रह जावे तो उन आत्म विशुद्ध परिणामों को सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। इस सूक्ष्म-कषाय को भी दूर करने की कोशिश करना सूक्ष्म साम्पराय संयम है।

(5) यथाख्यात संयम—कषाय रहित आत्मा के शुद्ध स्वभाव में मग्न होना यथाख्यात संयम है। मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम होने से यह प्रकट होता है।

संयम के उपरोक्त 5 भेदों के अतिरिक्त मार्गणा की अपेक्षा से संयम के दो भेद और हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है-

(6) संयमासंयम (देश संयम)—सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके पाँच पापों का एक देश त्याग-संयमासंयम है।

(7) असंयम—स्थावर व त्रस हिंसा से विरत नहीं होना असंयम है।

देव-गति व नरक-गति में संयम धारण नहीं किया जा सकता है और तिर्यंच गति में भी आंशिक संयम ही धारण किया जा सकता है। अतः इन गतियों के जीवों को मोक्ष नहीं होता है। मनुष्य गति में पूर्ण संयम धारण किया जा सकता है, अतः मनुष्य गति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

4.3 दर्शन मार्गणा (*Darshan Margana*)—

जो देखता है अथवा जिसके द्वारा सामान्य अवलोकन हो, वह दर्शन मार्गणा है। इसके चार भेद हैं- चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन ।

इनके संक्षिप्त लक्षण निम्न प्रकार हैं-

दर्शनोपयोग का लक्षण—प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक है फिर भी उसमें आकार भेद रूप विशेष अंश को

ग्रहण करके जो स्व या पर का सत्तारूप सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

उसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन—चक्षुइंद्रिय संबंधी जो सामान्य आभास होता है वह चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन—चक्षु के सिवाय अन्य चार इंद्रियों के द्वारा या मन के द्वारा जो पदार्थ का सामान्य रूप से ग्रहण होता है वह अचक्षुदर्शन है।

अवधिदर्शन—अवधिज्ञान के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत पदार्थों का जो सामान्यावलोकन है वह अवधिदर्शन है।

केवलदर्शन—जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्मा के सामान्य आभास रूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं।

तीन इंद्रिय जीवों तक अचक्षुदर्शन ही होता है। चार इंद्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को दोनों दर्शन होते हैं। पंचेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि को ही किन्हीं अवधिज्ञानी को अवधिदर्शन और केवली भगवान को ही केवलदर्शन होता है। संसारी जीवों के ज्ञान और दर्शन एक साथ नहीं होते हैं किन्तु केवली भगवान के दोनों एक साथ ही होते हैं।

अतः दर्शनमार्गणा को समझकर समस्त बाह्य संकल्प विकल्प को छोड़कर अंतर्मुख होकर निर्विकल्प समाधि में स्थिरता प्राप्त कर शुद्धात्मा का अवलोकन करना चाहिए।

4.4 लेश्या मार्गणा (*Leshya Margana*)—

कषाय सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्या मार्गणा में भाव-लेश्या अभिप्रेत है। इसके छः भेद हैं- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

लेश्या—

जो लिम्पन करती है, वह लेश्या है अर्थात् जो कर्मों को आत्मा से लिप्त करती है, वह लेश्या है। जिसके द्वारा आत्मा पाप-पुण्य से अपने को लिप्त करती है, उसे लेश्या कहते हैं। जैसे मिट्टी, गेरू आदि के द्वारा दीवार रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ-अशुभ भावरूपी लेप के द्वारा आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, वह लेश्या कहलाती है। जिस प्रकार थर्मामीटर से शरीर का ताप नापा जाता है, उसी प्रकार भावों के द्वारा आत्मा का ताप अर्थात् लेश्या का पता चलता है।

तीव्रता-मन्दता की अपेक्षा से लेश्या छः प्रकार की होती है- तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। रंगों से उपमित करने से इन्हें क्रमशः कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या कहते हैं।

4.5 दो प्रकार की लेश्या (Two types of *Leshyas*)—

लेश्या 2 प्रकार की होती हैं - द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या।

(क) द्रव्य लेश्या—वर्ण नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर का रंग द्रव्य लेश्या है। यह आयु पर्यन्त एक ही रहती है। परन्तु यह आत्मा का उपकार या अपकार नहीं करती है और इससे कर्म बन्ध नहीं होता है। इसके छः भेद हैं-

(1) **कृष्ण**—भौंरे के समान काला रंग ।

(2) **नील**—नील मणि के समान रंग ।

(3) **कापोत**—कापोत (कबूतर) के समान रंग ।

(4) **पीत**—सुवर्ण के समान रंग ।

(5) **पद्म**—कमल के समान रंग ।

(6) **शुक्ल**—शंख के समान श्वेत रंग ।

(ख) भाव लेश्या—मन, वचन व काय से जो भी क्रिया हम करते हैं, वह किसी न किसी कषाय से प्रेरित होती

है। कषाय से अनुरंजित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। इनसे कर्म बन्ध होता है। जीवों के परिणामों के अनुसार ये बराबर बदलती रहती हैं। यह छः प्रकार की होती है - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

4.6 भाव लेश्याओं के लक्षण (Characteristics of *Bhaav Leshyas*)—

(1) कृष्ण लेश्या—जो तीव्र-क्रोधी, लड़ाकू, धर्म से रहित, स्वच्छन्द, विषयों में आसक्त, मायावी, आलसी, डरपोक, दुराग्रही, निर्दयी, असंतोषी आदि हो, वह कृष्ण लेश्या वाला जीव है।

(2) नील लेश्या—जो बहुत निद्रालु हो, धन-धान्य के संचय में तीव्र लालसा रखता हो, विषयों में आसक्त हो, कायर हो, दूसरे को ठगने हेतु तत्पर हो, मायाचारी हो, अतिलोभी हो, ये नील लेश्या वाले जीव के लक्षण हैं।

(3) कापोत लेश्या—जो पर निन्दा करने वाला, दूसरों से ईर्ष्या करने वाला, शोक अधिक करने वाला, स्वयं की प्रशंसा करने वाला, दूसरे का विश्वास नहीं करने वाला, अन्यों को अपने से हीन समझने वाला, रण में मरने हेतु उद्यम, प्रशंसकों को धन आदि देने वाला है, वह कापोत लेश्या वाला जीव है।

(4) पीत लेश्या—समदर्शी, दया-दान में रत, मृदु स्वभावी, ज्ञानी, अपने कर्तव्य को जानने वाला, सेव्य-असेव्य को जानने वाला, सत्यवादी आदि गुणों वाला व्यक्ति पीत लेश्याधारी होता है।

(5) पद्म लेश्या—जो त्यागी, भद्र, सच्चा, क्षमाशील, उद्यम कार्यों में लग्न, गुरु व देवता की स्तुति करने वाला हो, उसके पद्म लेश्या होती है।

(6) शुक्ल लेश्या—जो पक्षपात रहित हो, सबसे समान व्यवहार करता हो, किसी से राग, द्वेष या प्रेम के भाव नहीं रखता हो, शत्रु के दोषों पर दृष्टि नहीं डालने वाला हो, पर की निन्दा नहीं करने वाला हो, पाप कर्मों से उदासीन हो, उसके शुक्ल लेश्या होती है।

4.7 छः भाव-लेश्याओं का दृष्टान्त (Six Bhaav *Leshyas* illustrated)—

किसी फलदार वृक्ष को देखकर 6 व्यक्तियों के मन में विभिन्न भाव आ सकते हैं जो उनकी लेश्याओं को दर्शाते हैं। जैसे (1) वृक्ष को जड़ से काटकर गिराकर फल प्राप्त किये जावें, (2) वृक्ष के जिस स्कन्ध (मोटी डाली) पर फल लदे हैं, उसे काटकर गिराकर फल प्राप्त किये जावें, (3) जिस बड़ी टहनी पर फल लदे हैं उसे तोड़कर फल प्राप्त किये जावें, (4) वृक्ष की जिस छोटी टहनी पर फल लगे हैं, उस टहनी को तोड़कर फल प्राप्त किये जावें, (5) पेड़ से केवल फलों को तोड़कर फल प्राप्त किये जावें और (6) जो फल पककर नीचे गिरे हुए हैं, उन्हें बीनकर फल प्राप्त किये जावें। इस प्रकार उन व्यक्तियों के भाव तो सभी के फल प्राप्त करने के हैं, किन्तु फल प्राप्त करने हेतु वे पेड़ को क्रमशः कम हानि पहुंचाना चाहते हैं। ये 6 प्रकार के भाव क्रमशः छः लेश्याओं को दर्शाते हैं। जिस प्रकार ये भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं, उसी प्रकार कृष्ण आदि लेश्या वालों के भाव भी उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं।

शुभ-अशुभ लेश्याएँ—मैत्री, शांति, क्षमा आदि भावों वाले व्यक्ति के शुभ लेश्या होती है और हिंसा, झूठ, चोरी, द्वेष, शोक, घृणा आदि अपवित्र भावों वाले व्यक्ति के अशुभ लेश्याएँ होती हैं। उपरोक्त 6 लेश्याओं में से प्रथम तीन अशुभ लेश्याएँ हैं और अंतिम तीन शुभ लेश्याएँ हैं। शुभ लेश्याओं से ही आत्मा का उत्थान हो सकता है। अतः शुभ लेश्याएँ ही अपनाने का प्रयास किया जाना अपेक्षित है।

गतियों में लेश्याएँ—नरक गति में तीनों प्रकार की अशुभ लेश्याएँ होती हैं और शेष तीनों गतियों में छहों प्रकार की लेश्याएँ होती हैं।

अलेश्या का लक्षण—अयोग केवली और सिद्ध भगवान अलेश्य हैं अर्थात् इनके कोई भी लेश्या नहीं होती है।

गुणस्थानों की अपेक्षा से लेश्याएँ—एक से चौथे गुणस्थान तक - छहों लेश्याएँ होती हैं।

पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक – तीन (पीत, पद्म और शुक्ल) लेश्याएँ होती हैं।

आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक – शुक्ल लेश्या होती है।

चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती है।

4.8 भव्यत्व मार्गणा (*Bhavyatva Margana*)—

जीव में मोक्ष जाने की शक्ति है या नहीं, इसकी खोज करना भव्यत्व मार्गणा है। यह भव्य व अभव्य दो प्रकार की होती है।

(क) भव्य जीव—जिसमें सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की योग्यता होती है, वह भव्य जीव है। इस प्रकार के जीव मोक्ष जाने योग्य होते हैं। काल की अपेक्षा से ये तीन प्रकार के होते हैं—

आसन्न भव्य—जो थोड़े भव धारण कर मोक्ष जावेगा, वह आसन्न भव्य है। इसे निकट भव्य भी कहते हैं।

दूर भव्य—जो बहुत काल में मुक्त होंगे, वे दूर भव्य हैं।

अभव्यसम भव्य—जो जीव मुक्त होने की योग्यता तो रखता है, किन्तु वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा, उसे दूरान्दूर भव्य या अभव्यसम भव्य कहते हैं। जैसे एक स्त्री पुत्रवती होने की योग्यता तो रखती है, मगर विधवा हो जाने के कारण अब सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती है।

(ख) अभव्य जीव—जिन जीवों में सम्यक् दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं हो। ये कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जैसे बांझ स्त्री कभी भी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती है। इसी प्रकार ठर्रा मूंग को कितना भी उबालो वह पकता (सीझता) ही नहीं है।

भव्य मार्गणा का विशेष वर्णन निम्न प्रकार है—

जिन जीवों की अनंतचतुष्टय रूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भव्य कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई लक्षण घटित न हो उनको अभव्य कहते हैं अर्थात् कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं परन्तु कभी भी मुक्त न होंगे। जैसे—विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। जैसे—बन्ध्यापने से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस तरह स्वभाव भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। इन दोनों स्वभावों से रहित अभव्य हैं जैसे— बन्ध्या स्त्री के निमित्त मिले चाहे न मिले किन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य राशि है और भव्य राशि इससे बहुत ही अधिक है। काल के अनंत समय हैं फिर भी ऐसा कोई समय नहीं आयेगा कि जब भव्य राशि से संसार खाली हो जाए। अनंतानंत काल के बीत जाने पर भी अनंतानंत भव्यराशि संसार में विद्यमान ही रहेगी क्योंकि यह राशि अक्षय अनंत है।

यद्यपि छह महीना आठ समय में 608 जीव मोक्ष चले जाते हैं और छह महीना आठ समय में इतने ही जीव निगोदराशि से निकलते हैं फिर भी कभी संसार का अंत नहीं हो सकता है न निगोद राशि में ही घाटा आ सकता है।

जिनका पंचपरिवर्तन रूप अनंत संसार सर्वथा छूट गया है और इसलिये जो मुक्ति सुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा इसलिये भव्य नहीं हैं और अनंत चतुष्टय को प्राप्त हो चुके इसलिये अभव्य भी नहीं हैं। ऐसे मुक्त जीव भी अनंतानंत हैं।

4.9 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–संयम से क्या आशय है ? संयम के सात भेद कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 2–भव्यत्व मार्गणा से क्या आशय है ? इसके प्रकार बताइये ?

प्रश्न 3–दर्शनोपयोग के भेदों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 4–लेश्या किसे कहते हैं, वे कौन–कौन सी हैं ?

पाठ-5—सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार मार्गणा तथा उपयोग
(*Samyaktva, Sangyitva* & *Aahar Marganas* and *Upayoga*)

5.1 सम्यक्त्वमार्गणा—जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित 6 द्रव्य, 9 पदार्थ, 5 अस्तिकाय आदि का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व मार्गणा है।

इसके 6 भेद हैं-

(1) उपशम सम्यक्त्व—चारित्र मोहनीय कर्म की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध/मान/माया/लोभ) तथा दर्शन मोहनीय कर्म की तीन (सम्यक्त्व, मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व) इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से होने वाला तत्त्वार्थ श्रद्धान उपशम सम्यक्त्व है।

(2) क्षयोपशम सम्यक्त्व—अनन्तानुबन्धी 4, मिथ्यात्व व सम्यक्मिथ्यात्व के अनुदय और सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय से जो सदोष तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, वह क्षयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।

(3) क्षायिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी-क्रोध-मान-माया-लोभ तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्तवमिथ्यात्व इन सात कर्म प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने से आत्मा में जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

(4) मिथ्यात्व—तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।

(5) सासादन सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से पतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्व में नहीं पहुंचता है, तब तक वह बीच वाली स्थिति सासादन सम्यक्त्व कहलाती है।

(6) सम्यग्मिथ्यात्व—सम्यक्त्व व मिथ्यात्व से मिश्रित भावों को सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं।

एक बार जिस जीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है वह जीव नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है। कम से कम अंतर्मुहूर्त में और अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक वह संसार में रह सकता है। इसलिये करोड़ों उपाय करके सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

5.2 संज्ञित्व मार्गणा (Investigation as per *Sangyas*) —

जिन जीवों में शिक्षा व उपदेश ग्रहण करने की शक्ति है, वे संज्ञी होते हैं। इसके 2 भेद हैं - संज्ञी और असंज्ञी ।

(1) संज्ञी या सैनी (मन सहित) जीव—जिन जीवों के मन होता है और जो हित-अहित की शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण कर सकते हैं वे संज्ञी या सैनी जीव कहलाते हैं। नारकी, देव और मनुष्य गतियों के सभी जीव और पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में से कुछ जीव संज्ञी होते हैं।

(2) असंज्ञी या असैनी (मन रहित) जीव—जिन जीवों के मन नहीं होता है और जो शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। एक से चार इन्द्रियों के सभी जीव असंज्ञी होते हैं और पंचेन्द्रियों में से कुछ जीव (जैसे पानी का सर्प, कोई-कोई तोता आदि) असंज्ञी होते हैं।

उपरोक्तानुसार पंचेन्द्रिय जीवों में कुछ संज्ञी होते हैं और कुछ असंज्ञी होते हैं। अत: संज्ञी-असंज्ञी का भेद केवल पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में होता है, अन्य में नहीं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों में उनकी पर्याय की योग्यतानुसार होते हैं। जबकि संज्ञी जीवों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान की विशेष योग्यता संभव है। चींटी आदि विकलेन्द्रिय जीवों में भी विचारने की शक्ति अवश्य होती है। चींटी यद्यपि देख नहीं सकती, किन्तु अग्नि की गर्मी महसूस करके वह यह विचारती होगी कि उधर जावेगी तो जल जावेगी, अत: वह उधर नहीं जाती है। इस प्रकार वह अपना हित-अहित विचार सकती है। यह विचारणा शक्ति सामान्य कही जाती है जो सामान्य रूप से जीवों में पाई जाती है। अन्य प्रकार की विशेष शक्ति शिक्षा ग्रहण करने संबंधी है जो

तोता, मैना, कबूतर, कुत्ता, पशु आदि में पाई जाती है। ये प्राणी पढ़ाये जाने पर अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसी बातें सीख लेते हैं जो उनकी जाति के ही अन्य प्राणी नहीं जानते हैं। अतः यह शिक्षा ग्रहण करने की विशेष शक्ति जिन जीवों में पाई जाती है, वे संज्ञी होते हैं और जिनमें नहीं पाई जाती है, वे असंज्ञी होते हैं।

5.3 आहारक मार्गणा (Investigation as per Karmic Intake)—

तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक व आहारक) तथा छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करना आहारक मार्गणा है। इसके 2 भेद हैं- आहारक और अनाहारक।

आहारक जीव—शरीर (औदारिक या वैक्रियिक या आहारक), मन तथा वचन के योग्य वर्गणाओं को जो जीव ग्रहण करते हैं, वे आहारक जीव हैं। इस प्रकार आहार वर्गणा, मनोवर्गणा और भाषा वर्गणा को ग्रहण करने वाले जीव आहारक जीव हैं।

अनाहारक जीव—जो जीव उपरोक्त वर्गणाओं को ग्रहण नहीं करते हैं, वे अनाहारक जीव हैं।

विग्रह गति में स्थित चारों गतियों के जीव, केवली समुद्घात की प्रतर और लोकपूरण अवस्था में स्थित सयोग-केवली, अयोग-केवली और सिद्ध भगवान ये सब अनाहारक हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी जीव आहारक होते हैं।

5.4 आहार मार्गणा का विशेष स्वरूप इस प्रकार है (Special Nature of *Aahar Margana*)-

जीव के दो भेद हैं—आहारक और अनाहारक।

शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक आदि किसी शरीर के योग्य तथा वचन, मन के योग्य वर्गणाओं का यथासम्भव ग्रहण होना आहार है उसको ग्रहण करने वाला जीव आहारक है। इसके विपरीत अर्थात् नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण न करने वाले जीव अनाहारक हैं।

अनाहारक जीव—विग्रहगति वाले जीव, केवली समुद्घात में प्रतर और लोकपूरण समुद्घात वाले सयोगकेवली जीव तथा अयोगिकेवली और सभी सिद्ध अनाहारक होते हैं।

आहारक जीव—उपर्युक्त अनाहारक से अतिरिक्त शेष सभी जीव आहारक होते हैं। आहारक के छह भेद हैं—कवलाहार, कर्माहार, नोकर्माहार, लेपाहार, ओज आहार और मानसिक आहार।

ग्रास उठाकर खाना कवलाहार है। यह सभी मनुष्य और तिर्यंच आदि में होता है। आठ कर्मयोग्य वर्गणाओं का ग्रहण करना कर्माहार है, यह विग्रहगति में भी होता है। शरीर और पर्याप्ति के योग्य नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण करना नोकर्माहार है यह केवली भगवान के भी होता है, उनके भी शरीर के योग्य वर्गणायें आ रही हैं वे आहारक हैं। फिर भी वे कवलाहार नहीं करते हैं। जो लेप से पोषण होता है वह लेपाहार है, यह वृक्षों में पाया जाता है। जो शरीर की गर्मी से पोषण करता है वह ओजाहार है जैसे—मुर्गी अण्डे को सेकर गर्मी देती है। देवों के मन में इच्छा होते की कंठ से अमृत झरकर तृप्ति हो जाती है यह मानसिक आहार है। देव लोग बलि या माँस भक्षण अथवा सुरापान आदि नहीं करते हैं।

अनाहारक का उत्कृष्ट काल तीन समय और जघन्यकाल एक समय है। आहारक का जघन्यकाल तीन समय कम श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

आहारक मार्गणा को समझकर कवलाहार के त्यागपूर्वक उपवास, तपश्चरण करते हुए कर्म-नोकर्माहार से रहित अनाहारक सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिए।

5.5 उपयोग प्ररूपणा (Consciousness or Upyoga Description)—

चेतना की परिणति विशेष को उपयोग कहते हैं। जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, वह उपयोग कहलाता है।

उपयोग के विभिन्न भेद–

प्रथम प्रकार से दो भेद निम्नानुसार हैं–

(क) दर्शनोपयोग—पदार्थों के सामान्य प्रतिभास (अवलोकन) को दर्शनोपयोग कहते हैं। इसे निर्विकल्प या निराकार उपयोग भी कहते हैं।

चार प्रकार के दर्शनों की अपेक्षा से दर्शनोपयोग के चार भेद हैं–चक्षु–दर्शन, अचक्षु–दर्शन, अवधि–दर्शन और केवल–दर्शन। केवल–दर्शन और केवलज्ञान एक साथ होते हैं।

(ख) ज्ञानोपयोग—पदार्थों के विशेष प्रतिभास को ज्ञानोपयोग कहते हैं। इसे साकार या सविकल्प उपयोग भी कहते हैं। आठ प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा से ज्ञानोपयोग के 8 भेद हैं– 5 प्रकार का सम्यक् ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल) तथा 3 प्रकार का मिथ्याज्ञान (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि या विभंग ज्ञान)।

ये दोनों उपयोग सभी जीवों में पाये जाते हैं–अन्य द्रव्यों में नहीं।

द्वितीय प्रकार से तीन भेद निम्न हैं–

उपयोग के दो भेद शुद्ध और अशुद्ध होते हैं। अशुद्ध उपयोग के भी दो भेद हैं – शुभ व अशुभ। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोग के 3 भेद हो जाते हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है–

(क) शुद्धोपयोग—कषाय रहित परिणाम होना शुद्धोपयोग है। यह ध्यानात्मक परिणति है और वीतराग श्रमणों के ही होती है, गृहस्थों के नहीं।

(ख) शुभोपयोग—धर्म–अनुराग युक्त परिणाम शुभोपयोग है। पंचपरमेष्ठी की पूजा, कीर्तन, भक्ति, दान, सेवा, वैय्यावृत्ति, व्रत, उपवास, जीव–दया आदि सब धार्मिक क्रियाएं शुभोपयोग हैं। यह पुण्यास्त्रव का कारण है।

(ग) अशुभोपयोग—विषय, कषाय, राग आदि युक्त परिणाम व प्रवृत्ति अशुभोपयोग है। जिसका उपयोग विषय–कषायों में मग्न है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, उग्र है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसके अशुभोपयोग है। यह पापास्त्रव का कारण है।

उपरोक्त तीनों में से अशुभोपयोग सर्वथा हेय (छोड़ने योग्य) है और शुद्धोपयोग सर्वथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है। शुभोपयोग कथंचित् उपादेय है क्योंकि यह शुद्धोपयोग का कारण है और मोक्ष मार्ग में सहायक है।

प्रथम तीन गुणस्थानों तक अशुभोपयोग क्रमश: घटता जाता है। चौथे से छठे गुणस्थान तक शुभोपयोग क्रमश: बढ़ता जाता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक क्रमश: बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग होता है। केवलज्ञान शुद्धोपयोग का फल है।

5.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)—

प्रश्न 1–सम्यक्त्वमार्गणा से क्या आशय है ? इसके भेद बताइये ?

प्रश्न 2–संज्ञित्व मार्गणा से क्या आशय है ? इसके भेद बताइये ?

प्रश्न 3–आहारक और अनाहारक जीव कौन से होते हैं ?

प्रश्न 4–उपयोग किसे कहते हैं ? ज्ञानोपयोग के भेदों का उल्लेख कीजिए?

एडवांस डिप्लोमा इन जैनोलॉजी

(प्रथम पत्र)

जैन तत्त्व विद्या

-संदर्भ ग्रंथ-

1. **तत्त्वार्थ सूत्र** –आचार्य उमास्वामी
2. **गोम्मटसार जीवकाण्ड** –आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
3. **वृहद् द्रव्य संग्रह** –आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (श्री ब्रह्मदेव सूरि कृत टीका)
4. **आप्त मीमांसा** –आचार्य समन्तभद्र
5. **जैन तत्त्व बोध** –मुनि श्री समतासागर जी
6. **ज्ञानामृत** –गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
7. **जैन भारती** –गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
8. **प्रवचन निर्देशिका** –गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
9. **जैन दर्शन** –डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
10. **www.encyclopediaofjainism.com**

प्रश्नावली (Questions Bank)

प्रश्न 1 -तत्त्व कितने प्रकार के होते हैं ?

प्रश्न 2 -तत्त्व के नाम बताइये ?

प्रश्न 3 -जीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4 -अजीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5 -हेय और उपादेय तत्त्वों के नाम बताइये ?

प्रश्न 6 -आश्रव तत्त्व की परिभाषा बताइये ?

प्रश्न 7 -साम्प्रायिक आश्रव किसे कहते हैं, उसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 8 -जीवाधिकरण के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 9 -चारों गतियों के आस्रव के कारण बताइये ?

प्रश्न 10 -कर्म बंध के कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 11 -संवर तत्त्व को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 12 -संवर तत्त्व के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 13 -निर्जरा किसे कहते हैं, निर्जरा कितने प्रकार की होती है ?

प्रश्न 14 -बाह्य तप के भेदों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 15 -मोक्ष तत्त्व को परिभाषित कीजिए ? यह कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 16 -जीव के ऊर्ध्वगमन के कौन-कौन से हेतू हैं ?

प्रश्न 17 -कौन से तीर्थंकर किस स्थान से मुक्त हुए हैं ?

प्रश्न 18 -सिद्धों के प्रमुख आठ गुण कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 19 -द्रव्य किसे कहते हैं ? द्रव्य के कितने भेद हैं?

प्रश्न 20 -द्रव्यों के नामों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 21 -गुण की परिभाषा बताइये, यह कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 22 -पर्याय का क्या अर्थ है, पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

प्रश्न 23 -जीव किसे कहते हैं ? इसके मुख्य भेद कौन से हैं ?

प्रश्न 24 -इन्द्रियों की अपेक्षा संसारी जीवों के कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 25 -स्थावर जीवों के भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 26 -त्रस जीव कितनी इन्द्रियों वाले होते हैं ?

प्रश्न 27 -गतियों की अपेक्षा जीवों के कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 28 -संज्ञी और असंज्ञी में अन्तर बताइये ?

प्रश्न 29 -भव्य और अभव्य जीवों में अन्तर बताते हुए भव्य जीवों के भेदों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 30 -निगोदिया जीव किसे कहते हैं ? इनके भेदों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 31 -चार्वाक दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 32 -बौद्ध दर्शन में मान्य आत्मा का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 33 -जैन दर्शन के अनुसार जीव के लक्षण और विशेषताओं का उल्लेख बताइये ?

प्रश्न 34 -उपयोग कितने प्रकार का है ? उनके नाम बताइये ?

प्रश्न 35 -जीव का स्वशरीर प्रमाण से क्या आशय है ?
प्रश्न 36 -चौदह जीव समास कौन-कौन से हैं ?
प्रश्न 37 -सिद्धों का स्वरूप बताइये ?
प्रश्न 38 -अजीव द्रव्य किसे कहते हैं ? उनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 39 -पुद्गल का क्या अर्थ है ? उसकी पर्यायें कौन-कौन सी है ?
प्रश्न 40 -पुद्गल के गुणों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 41 -अणु और स्कंध में अन्तर बताइये ?
प्रश्न 42 -पर्याय किसे कहते हैं ? इसके 2 प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 43 -पुद्गल की विभाव व्यंजन पर्यायों के नाम बताइये ?
प्रश्न 44 -अनक्षरात्मक भाषा किन-किन जीवों की होती है ?
प्रश्न 45 -संस्थान का अर्थ बताते हुए इसके प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 46 -धर्म द्रव्य का लक्षण बताइये ?
प्रश्न 47 -अधर्म द्रव्य का क्या कार्य है ?
प्रश्न 48 -आकाश द्रव्य का क्या अर्थ है, यह कितने प्रकार का है ?
प्रश्न 49 -काल द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसके प्रमुख भेदों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 50 -अस्तिकाय किसे कहते हैं ?
प्रश्न 51 -अस्तिकाय द्रव्य कौन-कौन से कहलाते हैं ?
प्रश्न 52 -जीव द्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में कितने प्रदेश होते हैं ?
प्रश्न 53 -द्रव्य की त्रयात्मकता के सिद्धान्त को समझाइये ?
प्रश्न 54 -सत् के परिणमन कितने प्रकार के हैं और कौन-कौन से हैं ?
प्रश्न 55 -उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के सिद्धान्त को उदाहरण द्वारा समझाइये ?
प्रश्न 56 -प्ररूपणा किसे कहते हैं ? प्ररूपणाओं के नामों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 57 -गुणस्थान किसे कहते हैं ? इनके प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 58 -संयतासंयत (देशविरत) गुणस्थान का क्या लक्षण हैं ?
प्रश्न 59 -क्षपकश्रेणी में कौन-कौन से गुणस्थान माने जाते हैं ?
प्रश्न 60 -जीवसमास का अर्थ बताइये ? और इनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 61 -पर्याप्ति किसे कहते हैं ? पर्याप्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?
प्रश्न 62 -प्राण का अर्थ बताइये ? चार इन्द्रिय जीवों के कितने प्राण होते हैं ?
प्रश्न 63 -प्राण के कुल प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 64 -मार्गणा का अर्थ बताते हुए इनके भेदों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 65 -गतिमार्गणा किसे कहते हैं, संसारी जीव की गतियों के नाम बताइये ?
प्रश्न 66 -भवनवासी देवों के प्रकारों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 67 -विग्रहगति किसे कहते हैं ? इसके भेद बताइये ?
प्रश्न 68 -नरक गति में आने-जाने के द्वारों का उल्लेख कीजिए ?
प्रश्न 69 -तीर्थंकर के आने-जाने के द्वारों के नाम बताइये ?

प्रश्न 70 –चक्रवर्ती के आने-जाने के द्वारों का विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 71 –इन्द्रिय मार्गणा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 72 –द्रव्येन्द्रिय के भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 73 –मन के स्वरूप का विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 74 –मन और आत्मा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 75 –काय मार्गणा का स्वरूप बताइये ? इसके भेदों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 76 –निगोद के भेदों को समझाइये ?

प्रश्न 77 –योगमार्गणा किसे कहते हैं ? इसके 15 भेदों के नाम बताइये ?

प्रश्न 78 –वेद के तीन भेदों को समझाइये ?

प्रश्न 79 –कषाय किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख भेद बताइये ?

प्रश्न 80 –नो कषाय (ईषत् कषाय) कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 81 –ज्ञान मार्गणा का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 82 –ज्ञान के प्रमुख भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 83 –द्वादशांगों के नाम बताइये ?

प्रश्न 84 –संयम से क्या आशय है ? संयम के सात भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 85 –भव्यत्व मार्गणा से क्या आशय है ? इसके प्रकार बताइये ?

प्रश्न 86 –दर्शनोपयोग के भेदों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 87 –लेश्या किसे कहते हैं, वे कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 88 –सम्यक्त्वमार्गणा से क्या आशय है ? इसके भेद बताइये ?

प्रश्न 89 –संज्ञित्व मार्गणा से क्या आशय है ? इसके भेद बताइये ?

प्रश्न 90 –आहारक और अनाहारक जीव कौन से होते हैं ?

प्रश्न 91 –उपयोग किसे कहते हैं ? ज्ञानोपयोग के भेदों का उल्लेख कीजिए?

नोट्स